विश्व की कहानी

अपने एक उपग्रह मिमास से शनि का दृश्य

निस्संदेह यह चित्र कोरी कल्पना के आधार पर ही बनाया गया है, परन्तु ज्योतिषियों की धारणा है कि अपने उपग्रहों से शनि ऐसा ही भव्य और सुंदर दिखाई पड़ता होगा। सूर्य से शनि की औसत दूरी ८८६,७७१,६०० मील है। यह अपनी धुरी पर लगभग १० घंटे में एक बार घूम जाता है।

आकाश की बातें

शनि

सूर्य से दूरी के हिसाब से सौर जगत् में बृहस्पति के बाद शनि की बारी आती है। अपने विचित्र वलय के कारण शनि सौर परिवार में सबसे निराला ग्रह है। दूरदर्शक द्वारा देखने पर यह एक अनुपम दृश्य आँखों के आगे प्रस्तुत करता है। इस लेख में इसी आकाशीय पिण्ड की कहानी आपको सुनाई जा रही है।

अन्य ग्रह दूरदर्शक से देखने पर गोल या प्रायः गोल दिखलाई पड़ते हैं, परंतु शनि के रूप में अद्वितीय विशेषता दिखलाई पड़ती है। इसको चारों ओर से घेरे हुए एक करधनी है, जिसे वलय (अंग्रेज़ी में 'रिंग') कहते हैं। स्त्रियों की करधनी उनके शरीर से चिपकी रहती है, परंतु शनि के वलय का धरातल शनि की सतह से समकोण बनाता है। इसलिए शनि के वलय की उपमा नर्त्तकी के लँहगे से देना अधिक उपयुक्त होगा जो वेग से नाचने के कारण फहराकर एक धरातल में फैल गया हो। शनि नाचता भी ख़ूब तेज़ी से है। हमारी पृथ्वी के एक बार नाचने में चौबीस घंटे लगते हैं, परंतु शनि के एक बार घूमने में केवल साढ़े दस घंटे, जिस पर इतना और यह भी है कि शनि पृथ्वी की अपेक्षा अत्यंत स्थूलकाय है—शनि का व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग साढ़े नौ गुना है! फिर शनि का वलय बहुत पतला भी है। यदि हम शनि की मूर्त्ति पैमाने के अनुसार बनावें और इसके वलय को एक हाथ के व्यास का रक्खें तो वलय की मोटाई बारीक-से-बारीक रेशमी कपड़े से भी कम होगी!

परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि शनि का वलय शनि की कमर में बँधा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वलय शनि को कहीं भी नहीं छूता! शनि और वलय के निकटतम छोर के बीच कोई ८००० मील का अंतर है!!

आरंभ से ही वलय ने ज्योतिषियों को अनेक उलझनों में डाला है। दूरदर्शक के आविष्कारकर्त्ता गैलीलियो ने अपने नवीन दूरदर्शक से पहली बार देखा कि शनि का आकार असाधारण है; परंतु दूरदर्शक के छोटा होने के कारण वह ठीक-ठीक न जान सका कि शनि का सच्चा स्वरूप कैसा है। उसने समझा कि शनि स्वयं अन्य ग्रहों की तरह एक गोल पिंड है, परंतु इसके अगल-बगल दो अन्य गोल पिंड भी हैं। यहाँ दिये गये चित्रों को बहुत दूर से कोरी आँख से देखने पर अवश्य दर्शक को ऐसा भ्रम हो सकता है, जैसा गैलीलियो को हुआ था, विशेष कर यदि उसने पहले से इन चित्रों को समीप से न देखा हो।

दूरदर्शक में शनि कैसा दिखाई पड़ता है
ये दोनों फ़ोटो भिन्न-भिन्न समय पर लिये गए थे। वलय स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं।

अपने बच्चों को ही खा डाला?

वलय का रूप हमें सदा एक-सा नहीं दिखलाई पड़ता। बात यह है कि हम वलय के हिसाब से सदा एक ही दिशा में नहीं रहते। सूर्य के चारों ओर शनि के एक बार घूमने में हम आधे समय तक वलय की उत्तरी सतह को देखते हैं और आधे समय तक वलय की दूसरी सतह को।
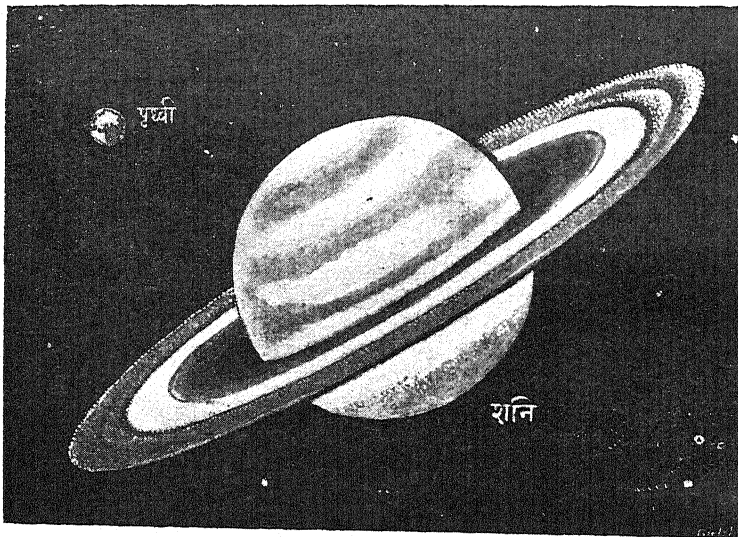
शनि का व्यास (वलय को छोड़कर) ७६,५०० मील है। पृथ्वी के आकार से तुलना कीजिए। न जाने कितनी पृथ्वियाँ इस ग्रह की परिधि में समा जायँगी!

इसलिए अवश्य ही शनि के एक चक्कर में दो बार ऐसा समय भी आता है, जब हम ठीक वलय के धरातल में रहते हैं। उस समय हम न तो वलय की उत्तरवाली सतह को देख सकते हैं और न दक्षिणवाली; हम केवल उसकी कोर को ही देख सकते हैं। परंतु वलय, जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, बहुत पतला है। परिणाम यह होता है कि उस समय वलय पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। शनि के एक चक्कर में लगभग तीस वर्ष समय लगता है। इसलिए महत्तम चौड़ाई के दिखलाई पड़ने के साढ़े सात वर्ष बाद शनि का वलय अदृश्य होता है। इसलिए जब गैलीलियो ने कुछ समय बाद शनि को फिर देखा तो उसे अगल-बगल के दोनों पिंड नहीं दिखलाई पड़े। उसे इससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। 'क्या', वह बोल उठा, 'शनि ने अपने बच्चों को ही खा डाला?' परंतु कुछ वर्ष बाद पार्श्ववर्त्ती पिंड फिर दिखलाई पड़े। तब से लेकर पचास वर्षों तक ज्योतिषियों ने छोटे-छोटे और अनेक दोषों से युक्त दूरदर्शकों से शनि को देखा और तरह-तरह के चित्र खींचे। अंत में असली बात का अंदाज़ हालैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हॉयगेन्स को लगा। उसने पहले-पहल बतलाया कि शनि पतले समतल वलय से घिरा हुआ है। यह शनि को कहीं नहीं छूता और इसका धरातल पृथ्वी-कक्षा के धरातल के हिसाब से तिरछा है।

इसके बीस वर्ष बाद फ्रांस के ज्योतिषी कैसिनी ने देखा कि वलय सर्वत्र अटूट नहीं है। यह बीच से कटा है, जिससे वस्तुतः यह कहना ठीक होगा कि शनि के दो वलय हैं। इन वलयों को विभाजित करनेवाली रेखा आज भी आविष्कर्त्ता के नाम पर 'कैसिनी की चीर' (Cassini's Division) कहलाती है। फिर इसके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद, अमेरिका के ज्योतिषी बॉण्ड ने एक तीसरे वलय का पता लगाया जो शनि से निकटतम दूरी पर है। यह बहुत फीका और प्रायः पूर्णतया पारदर्शक है। इसी से यह छोटे और मझोले दूरदर्शकों में नहीं दिखलाई पड़ता।

एक से अधिक होने के कारण शनि के वलयों की चर्चा प्रायः बहुवचन में ही की जाती है।

वलय क्या हैं?

क्रियात्मक ज्योतिष की कठिनाइयों को अच्छे दूरदर्शकों ने हल कर दिया, परंतु गणितज्ञों की उलझनें आज भी पूर्णतया मिट नहीं पाई हैं। पहले लोगों का विश्वास था कि वलय ठोस हैं। दो सौ वर्षों तक यही विश्वास बना रहा। तब प्रश्न उठा कि वलय क्या वस्तुतः ठोस हैं या वे छोटे-छोटे टुकड़ों के समूह हैं? अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत के लगभग प्रसिद्ध लाप्लास ने गणित द्वारा सिद्ध किया कि ठोस वलय टिकाऊ हो ही नहीं सकता। ठोस वलय चाहे कितना भी अच्छी तरह समतुलित हो—कोई अंश किसी ओर ज़रा-सा भी भारी न हो—और चाहे कितनी भी सचाई से यह ठीक शनि के चारों ओर समान दूरीवाली स्थिति में रख दिया जाय, कभी-न-कभी वलय जाकर ग्रह से लड़ जायगा। बात यह है कि यह स्थिति 'अस्थायी साम्य' (unstable equilibrium) की है। नाम-मात्र भी बाहरी शक्ति—किसी उपग्रह या दूरस्थ ग्रह का एक-अलंगा आकर्षण—वलय की निश्चलता को भंग कर देगा। वलय की परिस्थिति वैसी ही होगी, जैसे कोई नोकीली छड़ी को नोक के बल पत्थर पर खड़ी कर देने से होगी। इस स्थिति में छड़ी आसानी से खड़ी होगी ही नहीं, और यदि होगी भी तो ज़रा-सी फूँक लगते ही गिर पड़ेगी। इसलिए लाप्लास की धारणा थी कि यह वलय वस्तुतः चूड़ियों के समान पतले

असंख्य वलयों का समूह होगा, वह एक वलय नहीं हो सकता। इसके बहुत समय पीछे, १८५७ में, भौतिक विज्ञानवेत्ता मैक्सवेल ने सिद्ध किया कि वलय न ठोस ही हो सकता है और न तरल। वह असंख्य चूड़ियों का समूह भी नहीं हो सकता। वह केवल असंख्य छोटे-छोटे रोड़ों का समूह हो सकता है। ठोस (या तरल) वलय में, ग्रह के समीप रहने के कारण, ऐसे ज़ोर का ज्वार-भाटा आएगा कि वह चकनाचूर हो जायगा, चाहे वलय में इस्पात की मज़बूती ही क्यों न हो।

एक फ्रेंच गणितज्ञ रोशे (Roche) ने अपनी गणना से यह भी सिद्ध किया कि शनि से एक विशिष्ट दूरी के भीतर कोई भी उपग्रह बिना टूटे रह नहीं सकता। उस दूरी तक ज्वार-भाटा-उत्पादक शक्ति इतनी प्रबल होगी कि केवल छोटे-ही-छोटे पिंड बच सकते हैं। शनि के सब वलय रोशे की बतलाई हुई दूरी के भीतर ही हैं।

ये सब गणनाएँ अवश्य एक सीमा तक संतोषजनक हैं। परंतु प्रश्न यह उठता है कि क्यों केवल शनि के ही वलय हैं, अन्य उपग्रहों के नहीं ? वलय इतना पतला और समतल क्यों है ? इसके रोड़े किस प्रकार इतने नियमबद्ध होकर चलते हैं ? इत्यादि।

कोरी आँख से

बिना दूरदर्शक के शनि ख़ूब चमकीले तारे की तरह दिखलाई पड़ता है। परंतु शनि की चमक बहुत घटा-बढ़ा करती है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, वलय हमें कभी ख़ूब चौड़े दिखलाई पड़ते हैं और कभी वे अदृश्य हो जाते हैं। जब वलय हमें ख़ूब चौड़े दिखलाई पड़ते हैं और सूर्य हमारी पीठ-पीछे रहता है तो शनि हमें बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। उस समय सबसे अधिक चमकीले तारे लुब्धक (सीरियस Sirius) को छोड़ अन्य सब तारों से शनि अधिक चमकीला रहता है। जब वलय अदृश्य हो जाते हैं तो शनि की चमक लगभग तिहाई ही रह जाती है, परंतु उस समय भी इसमें इतनी चमक रहती है कि इसकी गणना प्रथम श्रेणी के तारों में की जा सकती है। देखने में इसका रंग कुछ मैला पीला जान पड़ता है।
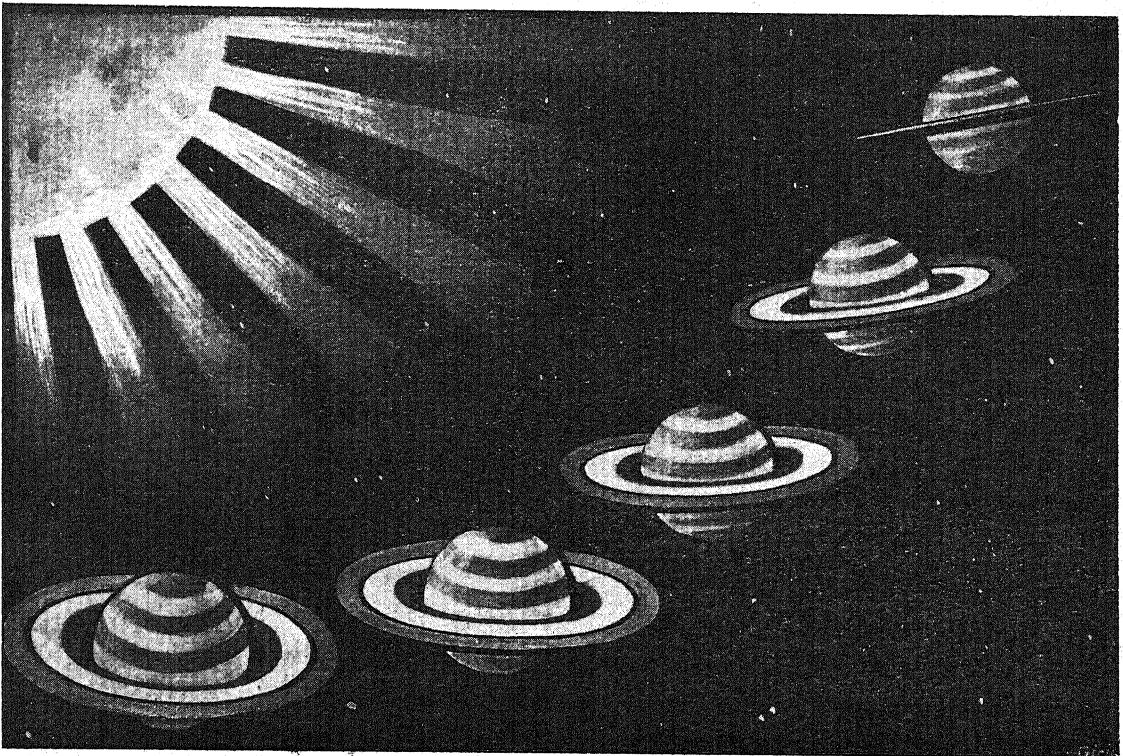
भिन्न-भिन्न समय में शनि के वलय का आकार भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। कारण यह है कि हम वलय के हिसाब से सदा एक ही दिशा में नहीं रहते। सूर्य के चारों ओर शनि के घूमने से कभी हम वलय की ऊपर सतह को देखते हैं कभी निचली को। कभी ठीक वलय के धरातल की सीध में आ जाने से केवल उसकी कोर ही नज़र आती है।

प्राचीन समय में सब ज्ञात ग्रहों में शनि ही सूर्य से महत्तम दूरी पर था। इसलिए इसका ही वेग सब ज्ञात ग्रहों में न्यूनतम था। इसी से इसका नाम 'शनैश्चर'—धीरे-धीरे चलनेवाला—पड़ा। परंतु अब तो शनि के उस पार तीन और ग्रहों का पता चला है; इनमें से सबसे दूरवाला और इसलिए धीरे-धीरे चलनेवाला ग्रह प्लूटो है। धीरे चलने में वह शनि को आसानी से मात करता है।

शनि को सूर्य की एक परिक्रमा करने में लगभग साढ़े उनतिस वर्ष समय लगता है। फलित ज्योतिष में विश्वास रखनेवाले जब 'साढ़े-साती सनीचर' की बात करते हैं तब उनका अभिप्राय यह रहता है कि शनि को अपने चक्कर का चौथाई भाग पूरा करने में साढ़े सात वर्ष लगेगा और इतने समय तक ग्रह-दशा रहेगी।

दूरदर्शक में

दूरदर्शक में (उन समयों को छोड़कर जब वलय अदृश्य रहते हैं) बीच में प्रायः गोल पिंड और इसको घेरे हुए वलय बड़े सुन्दर लगते हैं। बीचवाला पिंड नारंगी-सा चिपटा है और यह चिपटापन अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक है। इसके लघुतम और महत्तम व्यासों का अनुपात लगभग ९ और १० का है। बड़े दूरदर्शकों में बृहस्पति की तरह शनि पर भी धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु ये बहुत फीकी हैं। शनि पर धब्बे ऐसे ही कभी देखे गए हैं। वे जब-जब देखे गए हैं तब-तब शनि के अक्षभ्रमण-काल के नापने की चेष्टा की गई है, जिससे पता चला है कि बृहस्पति की तरह शनि पर भी मध्यरेखा से विभिन्न दूरियों पर अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न है। बृहस्पति की तरह शनि के भी बिंब के किनारेवाले भाग केन्द्र की अपेक्षा कम चमकीले हैं। इसके अतिरिक्त मध्यरेखा की अपेक्षा शनि के ध्रुवप्रदेश कम चमकीले दिखाई पड़ते हैं।

शनि के कुछ पुराने चित्र
पहले वलय स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता था। धीरे धीरे उसका वास्तविक रूप प्रकट हुआ।

बड़े दूरदर्शकों में तीन वलय दिखलाई देते हैं। बीचवाला वलय सबसे अधिक चमकीला है। यह शनि के केन्द्रीय भागों से चमक में किसी प्रकार कम नहीं है। बाहरी वलय इससे बहुत कम चमकीला है। भीतरवाला वलय बहुत ही मन्द प्रकाश देता है और यह प्रायः पारदर्शक है। इसीलिए इसे 'जालीनुमा वलय' (क्रेप रिंग, crepe ring) कहते हैं। इसके आर-पार शनि का किनारा स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

बाहरी वलय दस हज़ार मील चौड़ा है। बीचवाला वलय सोलह हज़ार मील चौड़ा है। इन दोनों के बीच जो रिक्त स्थान—कैसिनी की चीर—है वह तीन हज़ार मील चौड़ा है। भीतरी (जालीनुमा) वलय साढ़े ग्यारह हज़ार मील चौड़ा है। भीतरी और मध्य वलयों के बीच लगभग तीन हज़ार मील चौड़ी जगह ख़ाली है। बाहरी वलय के बाहरी किनारे का व्यास क़रीब १,७१,००० मील है।

तीनों वलय बहुत पतले हैं। उनकी मोटाई शायद १० मील से अधिक न होगी। जब हम वलयों के धरातल में आ जाते हैं तो वे बड़े-से-बड़े दूरदर्शकों में नहीं दिखलाई पड़ते और कई दिन तक पूर्णतया अदृश्य रहते हैं। अदृश्य होने के कुछ समय पहले और पीछे वलय हमें सुई की तरह पतले दिखलाई पड़ते हैं। उस समय कभी-कभी शनि के उपग्रह इस सुई पर मोती के समान बिंधे हुए अत्यन्त मनोहर लगते हैं।

बाहरी वलय शायद स्वयं चिरा है। इस चीर को 'एनके की चीर' कहते हैं, परन्तु यह कभी ही कभी, और सो भी अस्पष्ट, दिखलाई पड़ती है। बीचवाले चटक वलय में भी कभी-कभी दो-तीन धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिससे सम्भवतः वह भी कई जगहों पर चिरा मालूम होता है।

जब सूर्य हमारे ठीक पीछे होने के बदले कुछ दायें या बायें रहता है तो शनि की परछाईं वलयों पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वलय की भी परछाईं ग्रह पर अक्सर देखी जाती है, परन्तु सँकरी होने के कारण मझोले दूरदर्शकों में बहुत स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ती।

१६५१ में वलय अदृश्य होंगे। १६४३ में वलय महत्तम चौड़ाई के दिखलाई पड़ेंगे। उस समय छोटे दूरदर्शकों से भी वलय देखे जा सकेंगे।

उपग्रह

वलयों के अतिरिक्त शनि के नौ उपग्रह हैं, इनमें जो सबसे बड़ा है वह ३ इंच के व्यास के दूरदर्शक से देखा जा सकता है। परन्तु दूसरों को देखना इतना सरल नहीं है। जो उपग्रह शनि से निकटतम दूरी पर है वह एक चक्कर कुल साढ़े बाईस घंटे में ही लगा लेता है। इसके बाद चार उपग्रह हैं, जिनके परिक्रमण-काल सवा दिन से लेकर साढ़े चार दिन तक हैं। इसके बाद सबसे बड़ा उपग्रह पड़ता है। यह लगभग १६ दिन में एक चक्कर लगाता है और हमारे चंद्रमा से बड़ा है। इस उपग्रह का नाम टाइटन है। इसके बादवाला उपग्रह २१ दिन ७ घंटे में एक चक्कर लगाता है। तब बहुत-सा रिक्त स्थान पड़ता है, जिसके बाद एक छोटा-सा उपग्रह है, जिसे एक चक्कर लगाने में लगभग ८० दिन लगते हैं। अन्त में एक बहुत ही नन्हा उपग्रह है, जिसे एक चक्कर लगाने में लगभग डेढ़ वर्ष लगता है और जो उल्टी दिशा में चलता है। जिस समय इस उपग्रह का पहले-पहल पता चला उस समय कोई भी दूसरा ग्रह या उपग्रह उल्टी दिशा में चलता हुआ नहीं देखा गया था। इससे गणितज्ञ बहुत आश्चर्य में पड़ गए, क्योंकि लाप्लास के प्रसिद्ध नीहा-

यदि शनि के धरातल पर हम पहुँच पाते तो हमें शनि के क्षितिज पर वलय का अंश और उस पर पड़ रही शनि की छाया कुछ ऐसी ही विचित्र और मनोरम दिखाई पड़ती जैसी ऊपर के चित्रों में कल्पित की गई है।

रिका-सिद्धान्त के अनुसार सब ग्रहों और उपग्रहों को एक ही दिशा में चलना चाहिए था! पीछे बृहस्पति के दो बाहरी उपग्रह भी उल्टी दिशा में चलते देखे गए। उनके उल्टी दिशा में चलने का क्या कारण है इस पर बृहस्पति के उपग्रहों के संबंध में विचार किया जा चुका है (देखो पृष्ठ १४१५)।

वलयों की बनावट

वलय अवश्य असंख्य छोटे-बड़े और पृथक्-पृथक् रहनेवाले ढोकों, रोड़ों और धूलिकणों से बने होंगे। इसका प्रमाण केवल गणित से ही नहीं, अन्य बातों से भी मिलता है। भीतरी वलय की पारदर्शकता से स्पष्ट है कि वहाँ रोड़े इतने दूर-दूर पर होंगे कि प्रकाश बिना विशेष रुकावट के पार जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब सूर्य वलय के एक पृष्ठ पर चमकता है और हम दूसरे पृष्ठ की ओर रहते हैं तो हम देखते हैं कि वलय को पार करके सूर्य का प्रकाश दूसरी ओर भी पहुँच जाता है। यदि वलय ठोस होते तो ऐसा न हो सकता। फिर, बाहरी और भीतरी वलयों के पार से तारे देखे गए हैं।

जब सूर्य हमारे ठीक पीछे रहता है, तब वलय की ऊपरी सतह में स्थित रोड़ों की जो परछाईं नीचेवाले रोड़ों पर पड़ती है, वह ऊपरवाले रोड़ों से छिपी रहती है। इसलिए कोई परछाईं हमको नहीं दिखलाई पड़ती और वलय हमको बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। परंतु सूर्य ज्यों-ज्यों एक बग़ल हटता है, त्यों-त्यों परछाइयाँ तिरछी पड़ती हैं, जिससे उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में हमें परछाईं दिखलाई पड़ने लगती है; इससे वलय की चमक बहुत कम हो जाती है। यदि वलय ठोस होता तो सूर्य के तिरछी दिशा से चमकने पर प्रकाश इतना न घटता। प्रकाश के घटने के नियम की गणना करने पर इस बात का समर्थन अच्छी तरह हो जाता है कि वलय पृथक्-पृथक् स्थित छोटे-छोटे पिंडों से बना है और यह भी पता चलता है कि दोनों चमकीले वलयों में लगभग कुल सोलहवाँ भाग ही ठोस पदार्थों से भरा होगा। शेष रिक्त स्थान होगा। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि रोड़े ही नहीं, वहाँ धूल के कणों की मात्रा भी काफ़ी होगी। उपरोक्त बातों का पता जर्मन ज्योतिषी ज़ेलिगर ने लगाया। इसके वर्षों पहले वलयों के ठोस न होने का प्रमाण इस बात से भी मिला था कि वलयों का भीतरी किनारा अधिक तेज़ी से चल रहा है, बाहरी किनारा कम तेज़ी से। यदि वलय ठोस होता तो अवश्य ही बाहरी किनारे का वेग अधिक होता और भीतरी का कम। इसलिए प्रत्यक्ष है कि वलय ठोस नहीं है।

शनि संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण आँकड़े

पृथ्वी से शनि की महत्तम दूरी	१,०३०,९१२,००० मी०
,, ,, ,, न्यूनतम ,,	७४२,६४६,००० ,,
सूर्य से शनि की महत्तम दूरी	९३६,३८८,००० ,,
,, ,, ,, न्यूनतम ,,	८३७,१७०,००० ,,
शनि की परिक्रमा का काल	१०,७५९ दिन ५ घंटे १६ मि०
गति	६·२ मील प्रति सैकंड
व्यास (वलय को छोड़कर)	७६,५०० मी०
बाहरी वलय का बाह्य व्यास	१७१,००० मी०
,, ,, ,, आंतरिक व्यास	१४७,६७० मी०

शनि पर

शनि पर अनुपम दृश्य दिखलाई पड़ता होगा। मध्य रेखा से कुछ उत्तर या दक्षिण स्थित प्रदेशों में रात्रि के समय वलय चंद्रमा की तरह शीतल प्रकाश से चमकता हुआ और धनुष के समान एक ओर से दूसरी ओर तक तना हुआ दिखलाई पड़ता होगा। छोटे-बड़े नौ चंद्रमा भी दिखलाई पड़ते होंगे, कोई द्वितीया के चंद्रमा की तरह शृंगाकार, कोई नतोदर, कोई उन्नतोदर और कोई पूर्णिमा के चंद्रमा की तरह पूर्ण गोलाकार! परंतु वलय की कांति के सामने ये सब फीके लगते होंगे। वलय स्वयं एक ओर कटा-सा दिखलाई पड़ता होगा, क्योंकि एक ओर इस पर ग्रह की परछाईं पड़ती होगी। वलय में चौड़ी और पतली कई एक काली और किनारे से समानांतर धारियाँ दिखलाई पड़ती होंगी, जिनसे वलय की शोभा और बढ़ जाती होगी। दिन में सूर्य बहुत नन्हा-सा दिखलाई पड़ता होगा; जान पड़ता होगा जैसे उससे कुछ गरमी आ ही नहीं रही है।

शनि का धरातल प्रायः सपाट होगा, वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ या पहाड़ियाँ न होंगी। वहाँ घना वायुमंडल होगा। शनि पानी से भी हलका है; यदि कहीं काफ़ी बड़ा समुद्र मिल सकता और उसमें हम शनि को डाल सकते तो यह उतराता, डूबता नहीं! शनि की भी बनावट बृहस्पति की-सी होगी; ठोस केंद्र, फिर बरफ़ और तब घने बादल। ये बादल जलवाष्पवाले बादल न होंगे; वे शायद किसी गैस के बादल होंगे। वहाँ ऐसी सरदी पड़ती होगी, जिसका अनुमान करना कठिन है। नापने से पता चलता है कि वहाँ का तापक्रम शून्य से १५० डिग्री सेंटीग्रेड नीचे होगा। इससे कुछ ही कम तापक्रम पर ऑक्सिजन गैस जमकर तरल हो जाती है।

आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन

आलोक-रश्मियों में परावर्त्तित होने का जो गुण है, उसकी ही यह ख़ूबी है कि हम विभिन्न वस्तुओं को देख पाते हैं। आइए, इस लेख में भौतिक जगत् के इस महत्त्वपूर्ण नियम का अध्ययन करें।

छोटे बच्चों को रबर की गेंद के साथ खेलते हुए आपने अक्सर देखा होगा। प्रायः वे बाज़ी लगाते हैं कि लगातार बिना सिलसिला टूटे हुए वे गेंद को फ़र्श और अपनी हथेली के बीच कितनी बार उछाल सकते हैं। इस खेल में बराबर सतर्क रहना पड़ता है। गेंद को फ़र्श पर यदि लम्बवत् फेंका जाय तभी वह ठीक ऊपर वापस आएगी। असावधानी के कारण गेंद यदि ज़रा भी तिरछी फ़र्श पर पहुँची कि फिर वह सीधी ऊपर हथेली के पास वापस न आएगी। नीचे जाते समय गेंद का मार्ग लम्ब से जितना एक ओर झुका था, लौटती बेर इसका मार्ग लम्ब की दूसरी ओर उतना ही झुका हुआ होगा। कमरे के कोने पर यदि एक व्यक्ति खड़ा हो और दूसरे कोने पर दूसरा व्यक्ति, तो वे एक दूसरे के पास उछाल-कर गेंद उसी दशा में फेंक सकते हैं जब कि वे गेंद को बीच की दूरी के ठीक मध्यविन्दु पर दे मारें।

रबर की गेंद किसी धरातल से धक्का खाकर जब लौटती है तो इस क्रिया को हम परावर्त्तन (Reflection) कहते हैं। परावर्त्तन में सदैव आपतित मार्ग और लम्ब के बीच का कोण लौटने के मार्ग और लम्ब के बीच के कोण के बराबर होता है।

कैरम के खेल में भी परावर्त्तन के इस नियम का पूरा फ़ायदा हम उठाते हैं। जब कभी गोट को स्ट्राइकर द्वारा मारकर सीधे पाकेट में नहीं डाल सकते, तब इस नियम की मदद लेते हैं। स्ट्राइकर को बोर्ड की दीवाल पर ताक-कर ऐसे कोण पर मारते हैं कि धक्का खाकर जब स्ट्राइकर वापस लौटे तो वह उस गोट से सीधा जा टकराए।
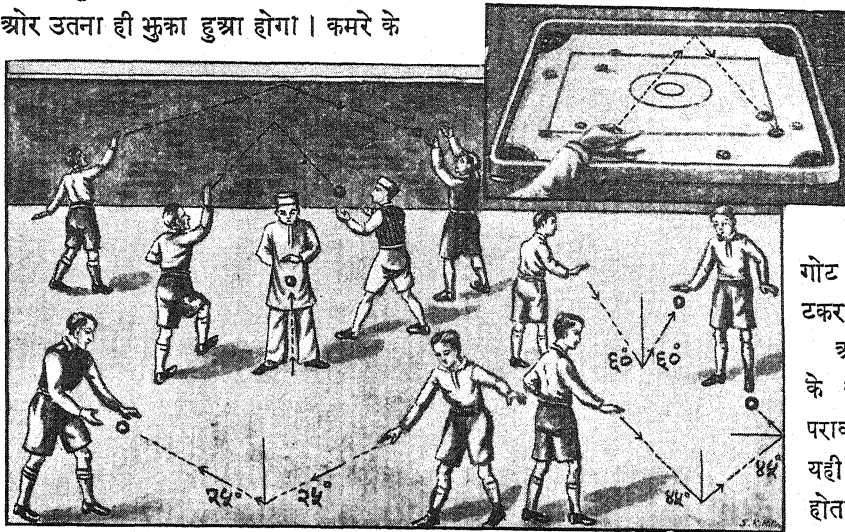
गेंद की उछाल द्वारा परावर्त्तन के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण
परावर्त्तन में सदैव आपतित मार्ग और लम्ब के बीच का कोण लौटने के मार्ग और लम्ब के बीच के कोण के बराबर होता है, यह नियम इस चित्र से स्पष्ट है। ऊपर दाहिने कोने में क़ैरम के खेल में परावर्त्तन के सिद्धान्त के प्रयोग का चित्र दिया गया है।

आलोक-रश्मियों के सम्बन्ध में भी परावर्त्तन का ठीक यही नियम लागू होता है। चिकने धरातल पर आलोक-रश्मियाँ जब लम्ब-वत दिशा में आप-तित होती हैं तो

परावर्त्तन होने पर ठीक उसी रास्ते उलटी दिशा में लौटती भी हैं। आपतित किरणें यदि लम्ब से एक ओर कुछ झुकी हुई हों तो परावर्त्तित किरणें भी लम्ब की दूसरी ओर ठीक उतनी ही झुकी हुई होंगी। अनगिनत प्रयोगों द्वारा यह बात भली भाँति सिद्ध हो चुकी है कि हर प्रकार के परावर्त्तन में आपतित किरण, लम्ब और परावर्त्तित किरण तीनों एक ही धरातल में होते हैं।

दर्पण के ठीक सामने जब आप खड़े होते हैं केवल तभी आपको अपना प्रतिबिम्ब नज़र आता है। सामने से ज़रा एक ओर हटकर यदि आप खड़े हों तो स्वयं आपको अपना प्रतिबिम्ब उस दर्पण में दिखलाई न देगा। अवश्य अन्य कोई व्यक्ति जब दर्पण के सामने से दूसरी ओर हटकर ऐसी जगह खड़ा होता है कि आपके चेहरे से आलोक-रश्मियाँ चलकर दर्पण से परावर्त्तित होने पर उसी जगह से गुज़रें तो उस व्यक्ति को आपका प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखलाई पड़ेगा, साथ ही उस व्यक्ति के भी चेहरे का प्रतिबिम्ब आपको दीखेगा।

सभी तरह के धरातलों से रबर की गेंद समान रूप से नहीं उछलती। ठीक इसी प्रकार आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन भी भिन्न-भिन्न धरातलों से एक-सा नहीं होता। श्वेत वर्ण के चिकने चमकीले धरातल से आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन सर्वोत्तम होता है। किन्तु चिकने-से-चिकने धरातल से भी आलोक-रश्मियों का पूर्ण परावर्त्तन कभी नहीं हो पाता। चाँदी की क़लई किए हुए दर्पण से आपतित आलोक का केवल ८० प्रतिशत भाग परावर्त्तित हो पाता है, शेष २० प्रतिशत दर्पण में ही विलीन हो जाता है। सभी कलईदार धरातल आलोक के उत्तम परावर्त्तक होते हैं।

इसके प्रतिकूल कुछ ऐसे पदार्थ भी होते हैं जिनमें से होकर लगभग समूचा प्रकाश आसानी से गुज़र सकता है। इनके आरपार हम वस्तुओं को स्पष्ट देख सकते हैं। शीशा, बर्फ़ का टुकड़ा, स्वच्छ पानी इसी श्रेणी के पदार्थ हैं। ये पदार्थ पारदर्शक कहलाते हैं। रेशमी कपड़ा, धुँधला काँच, मटमैला पानी और दूध आदि उन पदार्थों की श्रेणी में आते हैं जिनमें से होकर आलोक थोड़ा-बहुत गुज़र सकता है। इन पदार्थों में से गुज़रते समय आलोक का काफ़ी भाग उनके अन्दर ही विलीन हो जाता है। ऐसे पदार्थ अल्पपारदर्शी कहलाते हैं। इन पदार्थों के आरपार प्रकाश तो चला जाता है किन्तु उस ओर की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दीखतीं।

अनेक पदार्थों में से प्रकाश का तनिक-सा अंश भी गुज़र नहीं सकता। लकड़ी, दफ़्ती आदि इसी श्रेणी में पीतल की मोटी चद्दरें, आती हैं। इन्हें अपारदर्शी कहते हैं। अवश्य ही इन पदार्थों के धरातल से आपतित आलोक का कुछ अंश परावर्त्तित होता है और शेष उसी में विलीन हो जाता है। किन्तु कजली जैसी नितान्त काली वस्तुओं में से होकर न तो प्रकाश इस पार से उस पार जा सकता है और न उसका कोई अंश परावर्त्तित होकर वापस ही लौटता है। जो कुछ आलोक ऐसी वस्तुओं पर पड़ता है, वह समूचा ही उस धरातल में विलीन हो जाता है। इसी कारण

(१) समतल दर्पण में बिंब का निर्माण
किरणें आँखों में प्रवेश करने पर बिंदु 'अ' का बोध 'क' पर कराती हैं।

(२) नियमित और अनियमित परावर्त्तन
अ से ब तक धरातल चिकना है। ब से स तक ऊबड़-खाबड़ है। टूटी रेखाओं द्वारा परावर्त्तन का मार्ग दिखाया गया है।

फ़ोटो धोनेवाले अँधेरे कमरे की समूची दीवालों पर गाढ़े तारकोल की काली पालिश चढ़ा दी जाती है, ताकि बाहर से प्रकाश की एकाध रश्मियाँ यदि इस अँधेरे कमरे में कहीं से आ भी जायँ तो वे सब-की-सब दीवाल में ही विलीन हो जायँ। किसी भी हालत में ये रश्मियाँ फ़ोटोवाली फ़िल्म तक न पहुँच पायँगी।

प्राचीन काल में आजकल-जैसे बढ़िया ढंग के दर्पण लभ्य न थे। फिर भी तत्कालीन सभ्य समाज प्रकाश के परावर्त्तन से एकदम अपरिचित न था। पानी तथा तेल-जैसे तरल पदार्थों में बिम्ब देखना वे जानते थे। पुराणों के अनुसार नारदजी का अपने रूप के बारे में मोह उस समय भंग हुआ जब उन्होंने नाले के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा। द्रौपदी के स्वयम्बर में प्रतियोगियों को स्तम्भ से लटकती हुई मछली का बिम्ब नीचे रखे हुए कड़ाह के तेल में देखकर उस मछली को तीर से वेधना था।

क़लईवाले दर्पणों का आविष्कार बहुत बाद में हुआ। प्रारम्भ में धातुओं पर बढ़िया पालिश करके दर्पण तैय्यार किए गए। किन्तु ऐसे दर्पणों का धरातल वायु के स्पर्श से जल्द गन्दा हो जाता था। १४वींशताब्दी में वेनिशियन लोगों ने आधुनिक ढंग के काँच के दर्पणों का सर्वप्रथम निर्माण किया था। दर्पण के लिए पूर्णतया समतल धरातलवाले काँच का टुकड़ा लेना होता है। फिर इस काँच के ऊपर पारे और टिन की एक पतली तह जमा देते हैं। धातु के चमकीले धरातल को काँच का परदा हवा के स्पर्श से अलग रखता है। इस कारण दर्पणों की चमक मन्द नहीं पड़ने पाती। किन्तु पारे की क़लईवाले दर्पण पर सूर्य की प्रखर किरणें जब कुछ दिनों तक पड़ती हैं तो दर्पण पीला पड़ जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए दर्पण की क़लई के लिए अब पारे के स्थान पर चाँदी का प्रयोग करते हैं। समतल काँच को एक छिछले थाल में नीचे की ओर मुँह करके रख देते हैं और चाँदी के घोल को काँच के ऊपर फैला देते हैं। अब एक रासायनिक पदार्थ इस घोल में डालते हैं, फलस्वरूप घोल के अन्दर से शुद्ध चाँदी निकल आती है, और काँच के धरातल पर इसकी एक पतली तह समान रूप से बैठ जाती है। क़लई करने के लिए बहुत थोड़ी-सी चाँदी की आवश्यकता पड़ती है। चाँदी की तह को हवा के स्पर्श से बचाने के लिए इसके ऊपर गाढ़े रंग का लेप चढ़ा देते हैं। चाँदी की क़लईवाले दर्पण दस-बीस वर्ष तक ख़राब नहीं होते।

जल में प्रतिबिम्ब—देखिए किनारे की इमारत पानी में किस तरह उल्टी प्रतिबिंबित दिखाई दे रही है। यह आलोक-रश्मियों के परावर्त्तन की ही करामात है।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि हम दर्पण या किसी अन्य चिकने धरातल में बाह्य वस्तुओं का बिम्ब कैसे देख पाते हैं। कमरे में रखे हुए दर्पण पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमें स्वयं दर्पण नहीं दीखता, वरन् उस दर्पण में अन्य वस्तुओं का बिम्ब दिखलाई पड़ता है। आलोक-बिन्दु 'अ' से अनेक आ-

लोक-रश्मियाँ दर्पण पर जाकर गिरती हैं। परावर्त्तन के नियमानुसार ये भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रक्षालित होती हैं। ये परावर्त्तित किरणें जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी काल्पनिक बिन्दु 'क' से आ रही हैं। चूँकि ये सभी किरणें प्रारम्भ में बिन्दु 'अ' से चली थीं, अतः हमारी आँखों में प्रवेश करके ये हमें बिन्दु 'अ' का ही बोध कराएँगी। हमें ऐसा जान पड़ेगा कि 'क' बिन्दु ही 'अ' पर स्थित है। 'क' बिन्दु ही 'अ' बिन्दु का प्रतिबिम्ब है। साधारण रेखागणित के नियमों की सहायता से हम देखते हैं कि 'क' बिन्दु 'अ' की ठीक लम्बवत् सीध में दर्पण के पीछे उतनी ही दूरी पर स्थित है जितनी दूरी पर 'अ' दर्पण के सामने है। (दे० १५२६पृ०काचित्र)

चमकदार कलईवाले धरातल से आलोक-रश्मियों का सदैव नियमित परावर्त्तन ही होता है। किसी बिन्दु विशेष से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद एक ही बिन्दु से आती हुई जान पड़ती है। अतः इन किरणों द्वारा परावर्त्तन करनेवाले धरातल को हम देख नहीं पाते। चिकने समतल धरातल के बजाय जब आलोक-रश्मियाँ किसी खुरदरे धरातल पर पड़ती हैं तो आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन उपर्युक्त ढंग से नहीं होता। इस अनियमित परावर्त्तन में एक ही बिन्दु से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद किसी विशेष बिन्दु से आती हुई नहीं जान पड़ती हैं। नियमित रूप से परावर्त्तित होने के बजाय ये रश्मियाँ धरातल पर प्रक्षालित होकर बिखर-सी जाती हैं। यह बिखरा हुआ प्रकाश जब हमारी आँखों में प्रवेश करता है तो हमें धरातल में कोई ख़ास प्रतिबिम्ब नज़र नहीं आता, बल्कि स्वयं धरातल ही दीखने लगता है। इसी बिखरे हुए प्रकाश की मदद से हम तमाम अप्रदीप्त वस्तुओं को देखने में समर्थ होते हैं।

बिखरे हुए प्रकाश की किरणें चकाचौंध नहीं उत्पन्न करतीं। लैम्प के प्रकाश में पढ़ते समय पुस्तक इस प्रकार रखनी चाहिए कि लैम्प से आनेवाली किरणें पुस्तक के पृष्ठ से प्रक्षालित होकर सीधी हमारी आँखों में न पहुँचें, अन्यथा पृष्ठ पर छपे हुए अक्षरों के बजाय हमें लैम्प का धुँधला प्रतिबिम्ब दीखेगा और आँखों में व्यर्थ की चकाचौंध पहुँचेगी। पुस्तक को सामने इस तरह रखना चाहिए कि पृष्ठ से केवल बिखरा हुआ प्रकाश हमारी आँखों में पहुँचे। अब पृष्ठ के अक्षर स्पष्ट दिखाई देंगे और चमक से आँखों को तनिक भी कष्ट न पहुँचेगा।

(ऊपर) समतल दर्पण में आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन। (नीचे) बाईं ओर, समतल दर्पण के बिम्ब में पार्श्विक उलट-फेर। दाहिनी ओर, दो दर्पणों को ९०° के कोण पर रखने पर तीन बिंबों का निर्माण।

सन्ध्या के समय जब क्षितिज के नीचे सूर्य डूब जाता है तब भी ऊर्ध्वाकाश के वायुस्तरों द्वारा सूर्य का प्रकाश बिखरकर नीचे पृथ्वी पर पहुँचता है। अतः सूर्यास्त के उपरान्त कुछ देर तक आकाश में धुँधला-धुँधला प्रकाश बना रहता है। प्रातः सूर्योदय से कुछ देर पहले भी वायुस्तरों द्वारा बिखरा हुआ सूर्य का प्रकाश आसमान से

पृथ्वी पर पहुँचता है। वायु के अन्दर उड़ते हुए नन्हें-नन्हें रजकणों से ही टकराकर आलोक बिखरता है। यदि हवा में धूलिकण या पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें न होतीं तो सूर्य डूबते ही सर्वत्र घटाटोप अँधेरा छा जाता। ऊर्ध्वाकाश में, जहाँ हवा में न तो बादल होते हैं और न धूलिकण, दिन की दुपहरी में भी आसमान में घना अन्धकार छाया रहता है, केवल सूर्यपिण्ड प्रकाशमान दीखता है—क्योंकि शुद्ध वायु में अन्य कोई पदार्थ ही मौजूद नहीं, जिससे प्रक्षालित होकर आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों में पहुँच सकें।

पढ़ने के लिए तेज़ रोशनीवाले लैम्प में चकाचौंध से आँखों की रक्षा करने के लिए दूधिया शीशे का ग्लोब काम में लाते हैं। इस ग्लोब के अन्दर से आलोक-रश्मियाँ बिखरकर हर दिशा में विकीरित होती हैं।

बिखरे हुए प्रकाश के गुणों की जाँच के लिए एक शुद्ध बर्फ़ की शिला लीजिए। यह एकदम पारदर्शक होगी। बहुत ही कम प्रकाश इस हिमशिला से बिखरता है। अतः स्वयं बर्फ़ की शिला बहुत स्पष्ट हमें नहीं दीखती। अब बर्फ़ को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ डालिए। फ़ौरन् ही इसकी पारदर्शिकता नष्ट हो जाती है। अब भी यह पहले-जैसा शुद्ध बर्फ़ है, किन्तु इसके ऊबड़-खाबड़ पड़े हुए सहस्रों धरातलों से आलोक-रश्मियों का नियमित परावर्त्तन नहीं हो पाता। अब प्रकाश का बहुत बड़ा अंश इन टुकड़ों द्वारा बिखरा जा रहा है। इसी कारण तोड़े हुए बर्फ़ के टुकड़ों का ढेर रुई-जैसा सफ़ेद दिखाई देता है। जलप्रपात से गिरने पर नन्हीं-नन्हीं असंख्य बूँदों में जब जल परिवर्त्तित हो जाता है तो दूध के फेन की भाँति इनका रंग भी सफ़ेद हो जाता है, क्योंकि इस दशा में बहुत सारा प्रकाश ये बिखेर सकती हैं।

समतल दर्पणों में किसी वस्तु का बिम्ब सीधा और उतना ही बड़ा बनता है जितनी बड़ी स्वयं वह वस्तु होती है। किन्तु यह बिम्ब एक बात में मूल वस्तु से भिन्न होता है। मूल वस्तु का दाहिना अंग बिम्ब में बायाँ अंग दिखाई देता है। शीशे के सामने आप दाहिने हाथ से कंघी करते हैं तो बिम्ब में बायाँ हाथ कंघी करता हुआ दिखलाई पड़ता है।

काग़ज़ पर लिखे हुए शब्दों का बिम्ब भी दर्पण में ठीक ऐसा उभरता है मानों स्याही-सोख पर सुखाने से ये शब्द स्याही-सोख पर उलटे आए हों (दे० पृष्ठ १५२८ के चित्र में नीचे बाईं ओर का चित्र)।

यदि दो दर्पण इस तरह खड़े किये जायँ कि उनके बीच ९० अंश का कोण बने तो इनके बीच में रखे हुए पदार्थ के तीन बिम्ब बनेंगे। समकोण बनाती हुई दो रेखाओं के अन्दर कोई सुन्दर डिज़ाइन बनाइए। इन्हीं दोनों रेखाओं पर दो काँच के दर्पण खड़े कर दीजिए—आप देखेंगे कि आपकी डिज़ाइन अपने तीन प्रतिबिम्बों के साथ मिलकर
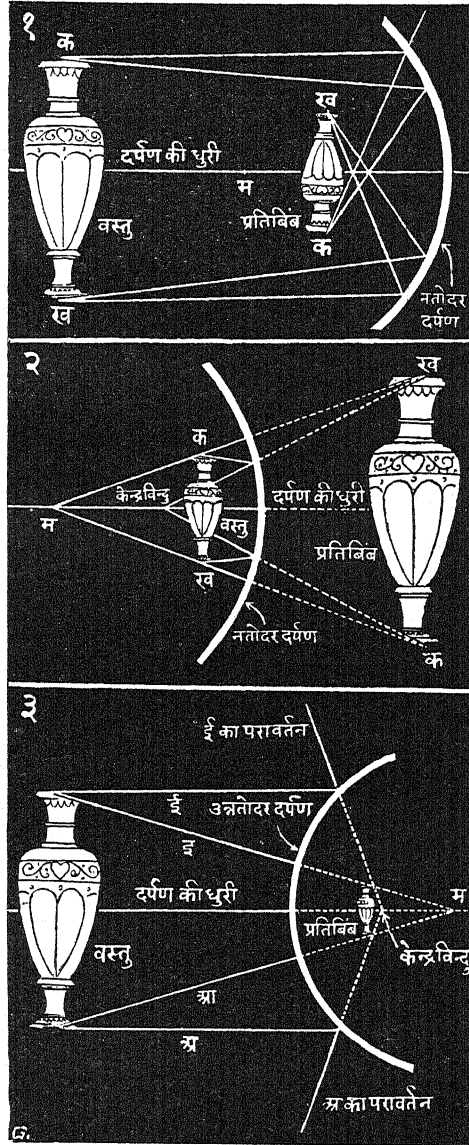
१. वस्तु 'क'-'ख' से चली हुई किरणें नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर दर्पण के सामने उसी वस्तु का उलटा और छोटे आकार का बिम्ब 'ख'-'क' बनाती हैं। २. यदि हम वस्तु को हटाकर केन्द्रबिन्दु और दर्पण के दर्मियान रक्खें तो दर्पण के पीछे जो काल्पनिक बिम्ब बनेगा वह अभिवर्द्धित होगा, साथ ही सीधा भी। ३. यह उन्नतोदर दर्पण में बिम्ब के निर्माण का चित्र है। 'आ' और 'इ' पदार्थ से गोले के मध्यबिंदु को जा रही किरणें हैं। 'अ' और 'ई' दर्पण की धुरी के समानांतर दौड़नेवाली किरणें हैं। किरणें मुड़ जाती हैं और ऐसा मालूम होता है मानों दर्पण के पीछे से आ रही हों। इस दशा में भी दर्पण के पीछे एक काल्पनिक सीधे और छोटे बिंब का निर्माण होता है।

एक सुन्दर और पूर्ण डिज़ाइन का प्रदर्शन करती है। यदि दोनों दर्पणों के बीच ४५ अंश का कोण हो तो उनके बीच रखी हुई वस्तु के सात बिम्ब बनेंगे। ६० अंश के कोण से ५ बिम्ब मिलेंगे। दो समानान्तर दर्पणों के बीच रखी हुई वस्तु के अनेक बिम्ब इन दर्पणों में बनेंगे। बड़े-बड़े नगरों में भोजनालयों के अन्दर कमरे की आमने-सामने की दीवालों के समूचे धरातल को समतल दर्पण से ढक देते हैं। ऐसा करने से छोटा-सा कमरा भी लम्बाई में बहुत बड़ा जान पड़ता है।

कार्निवाल तथा मनोरंजन-पार्क में बिना धड़ के बोलते हुए सिर का तमाशा भी दर्पणों की सहायता से ही दिखलाते हैं। तीन टाँगवाली मेज़ को इस तरह रखते हैं कि एक पैर सामने रहे, शेष दो पीछे। सामनेवाले पैर से पिछले दोनों पैरों तक दो दर्पण मेज़ के नीचे लगे रहते हैं—इन दोनों दर्पणों का मुँह बाहर स्टेज की ओर रहता है। दोनों दर्पणों के पीछे मेज़ के नीचे एक आदमी बैठा रहता है। मेज़ में बने एक झरोखे के रास्ते से इस आदमी का सिर बाहर निकला रहता है। आइनों के सामने काले रंग का पर्दा स्टेज की आड़ में टाँग देते हैं। अतः दर्पण पर दृष्टि डालने से दर्पण तो स्वयं नहीं दिखाई पड़ता बल्कि उसमें काले रंग के पर्दे का प्रतिबिम्ब देखकर ऐसा जान पड़ता है कि जहाँ दर्पण लगा हुआ है वह जगह एकदम ख़ाली है, अर्थात् टेबुल के नीचे की समूची जगह एकदम ख़ाली जान पड़ती है, यद्यपि शीशे के पीछे ही वह व्यक्ति बैठा हुआ है। साधारण दर्शक समझते हैं कि बिना धड़ का सिर मेज़ पर रखा हुआ है।

दर्पण की मदद से सूर्य्य-रश्मियों को इच्छित दिशा में भेजकर स्काउट तथा सैनिक परस्पर सांकेतिक भाषा में बातचीत कर लेते हैं। ऐसे यंत्र का नाम हीलियोग्राफ है। एक त्रिपाद पर दर्पण लगा रहता है, जिसका मुँह सूर्य की ओर रहता है। एक बटन दबाकर संकेत करनेवाला सूर्य-रश्मियों को इच्छित स्थान पर सामने की ओर भेज सकता है। देर तक बटन दबाए रखने पर 'डैश' का बोध होता है और कम देर तक बटन दबाने पर 'डॉट' का बोध होता है। इस प्रकार मोर्स-संकेत प्रणाली द्वारा संदेश भेजा जा सकता है। इस रीति से १०० मील के फ़ासले पर सीधे संकेत भेजे जाने का भी दृष्टान्त मौजूद है!

नतोदर और उन्नतोदर दर्पण में आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन
विवरण के लिए अगले पृष्ठ का मैटर देखिए।

साधारण पेरिस्कोप में भी आलोक-रश्मियों के परावर्त्तन का प्रयोग करते हैं। पेरिस्कोप में साधारणतः दो दर्पण एक लम्बी नली के दोनों सिरों पर लगे रहते हैं। नली को सीधी खड़ी करने पर दूर की वस्तुओं से चलकर आलोक-रश्मियाँ ऊपरवाले दर्पण से परावर्त्तित होकर नीचे नली के अन्दर जाती हैं, और तब दूसरे दर्पण से परावर्त्तित होकर वे हमारी आँखों में पहुँचती हैं। पनडुब्बियों में लगे हुए पेरिस्कोप का ऊपरी भाग ज़रा-सा पानी के बाहर निकला रहता है। इस प्रकार पानी के अन्दर बैठे-बैठे ही पनडुब्बी-संचालक मालूम कर लेता है कि शत्रु का जहाज़ किस ओर और कितनी दूरी पर है। आधुनिक पेरिस्कोप में समतल दर्पणों के स्थान पर समपार्श्व (Prism) और लेन्स का प्रयोग करते हैं ताकि दूर की वस्तुओं का बिम्ब स्पष्ट और आलोकमय बन सके।

सभी दर्पण समतल धरातल के नहीं हुआ करते। गोले के धरातल के एक टुकड़े को लेकर यदि उसके बाहरी भाग पर क़लई करें तो हमें उन्नतोदर दर्पण मिलते हैं। यदि भीतरी भाग पर क़लई करें तो नतोदर दर्पण मिलेगा। वक्र धरातलवाले इन दर्पणों में विचित्र ढंग के प्रतिबिम्ब बनते हैं, यद्यपि परावर्त्तन के वे ही नियम इनमें भी लागू होते हैं। इसी पृष्ठ का चित्र देखिए। नतोदर दर्पण के बीचोबीच से गुज़रनेवाली त्रिज्या 'क ध' मुख्य अक्ष कहलाती है।

'ध' दर्पण का ध्रुव कहलाता है। 'क' उस गोले का केन्द्र है जिसके धरातल में से दर्पण का टुकड़ा काटा गया है। जैसा कि चित्र में नं० ३ से प्रकट है, वे तमाम किरणें जो मुख्य अक्ष के समानान्तर चलकर दर्पण पर आपतित होती हैं परावर्त्तन के बाद मुख्य अक्ष को बिन्दु 'न' पर काटती हैं। 'न' को मुख्य नाभि (Focus) कहते हैं। वक्र धरातल-वाले गोल दर्पणों के परावर्त्तन के सिलसिले में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि धरातल के किसी बिन्दु पर खींची गई लम्बरेखा केन्द्र 'क' से गुज़रनेवाली त्रिज्या होगी।

स्पष्ट है कि 'क' पर रखे हुए बिन्दु से चलकर आलोक-रश्मियाँ दर्पण से परावर्त्तित होने पर पुनः उसी रास्ते लौटेंगी और 'क' पर ही मिलेंगी। अतः इस बिन्दु का बिम्ब भी 'क' पर ही बनेगा। यदि प्रदीप्त बिन्दु 'ख' पर रखा जाय तो परावर्त्तन के उपरान्त 'ख' से चली हुई किरणें 'क' और 'न' के दर्मियान बिन्दु 'ग' पर मिलेंगी। अतः 'ख' का बिम्ब 'ग' पर बनेगा। इसके प्रतिकूल यदि प्रदीप्त बिन्दु 'ग' पर रखा जाय तो इसका बिम्ब 'ख' पर बनेगा। यदि प्रदीप्त बिन्दु दर्पण के सामने एकाध मील की दूरी पर रखा जाय तो इस बिन्दु से चली हुई किरणें, जो दर्पण पर आपतित होंगी, लगभग एक दूसरे के समानान्तर ही होंगी, अतः परावर्त्तन के बाद वे सभी 'न' पर मिलेंगी—उस प्रदीप्त बिन्दु का बिम्ब 'न' पर बनेगा (दे० चित्र में नं० १, २, ३)। सूर्य का बिम्ब नतोदर दर्पण में उसके नाभिबिन्दु पर बनता है।

एक वक्र दर्पण में दिखाई देनेवाला विकृत प्रतिबिंब

ये सभी बिम्ब दर्पण के सामने वास्तव में बनते हैं—धुँधले काँच के परदे पर ये बिम्ब स्पष्ट उभर आते हैं। सभी वास्तविक बिम्ब उलटे बनते हैं। यदि बिम्ब 'क' और 'न' के बीच बनता है, तो वह मुख्य पदार्थ की अपेक्षा छोटा होता है, और जब बिम्ब 'क' 'ध' के बाहर बनता है, तो वह मुख्य पदार्थ से बड़ा होता है। जब वस्तु 'व' को हम 'न' और 'ध' के बीच ले आते हैं तो उस वस्तु से चली हुई किरणें परावर्त्तन के उपरान्त दर्पण के सामने नहीं मिलतीं, वरन् वे दर्पण के पीछे 'व' पर मिलती हुई जान पड़ती हैं। अतः इस दशा में बिम्ब काल्पनिक बनता है और यह बिम्ब सीधा तथा उस वस्तु की अपेक्षा आकार में बड़ा होता है (दे० चित्र में नं० ४)।

उन्नतोदर दर्पण में बिन्दु 'क' और 'न' दोनों ही दर्पण के पीछे होते हैं। जैसा कि चित्र में नं० ५ से प्रकट है, दर्पण के सामने किसी वस्तु को कहीं भी रखिए, इसका बिम्ब दर्पण के पीछे ही बनेगा—बिम्ब काल्पनिक, सीधा तथा आकार में उस वस्तु से छोटा होगा। उन्नतोदर दर्पण में बिम्ब सदैव दर्पण के पीछे बिन्दु 'ध' और 'क' के बीच बनेगा। यह काल्पनिक बिम्ब 'क' से आगे कभी निकल ही नहीं सकता।

कार्निवाल और मेलों में उन्नतोदर तथा नतोदर और अन्य इसी प्रकार के वक्र दर्पणों को एक दूसरे से सटाकर इस तरह रखते हैं कि दर्शक-गण बड़े वीभत्स तथा विचित्र प्रतिबिम्ब इनमें देखते हैं। किसी दर्पण में सिर चिपटा तथा टाँगें पतली दीखती हैं तो किसी में हाथी-जैसी मोटी टाँगें दिखलाई देती हैं।

मोटरकार के लैम्प के भीतर बल्ब के पीछे ही नतोदर दर्पण लगा रहता है। बल्ब की किरणें इस नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर उस बल्ब का एक वास्तविक बिम्ब कुछ दूर सामने बनाती हैं—यह बिम्ब अभिवर्द्धित रूप में सड़क पर पड़ता है जिससे ड्राइ-वर को अँधेरे में दूर तक रास्ता दिखलाई पड़ता है। वास्त-विक अभिवर्द्धित बिम्ब प्राप्त करने के लिए बल्ब को दर्पण के मुख्य नाभिबिन्दु और उसके केन्द्र के बीच में रखना ज़रूरी होता है। सर्चलाइट में भी यही प्रबंध रहता है।

जो बात एक अणु के लिए सत्य है वही अणुओं की किसी संख्या के लिए भी सत्य है, यह इस चित्र से स्पष्ट है।

एवोगैड्रो के सिद्धान्त के आधार पर गे-लूज़क के सरल आयतनिक अनुपातों के सिद्धान्त का प्रतीकों द्वारा स्पष्टीकरण

(इन चित्रों को अणुओं के वास्तविक चित्र न समझना चाहिए। केवल सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिए ही ये बनाए गए हैं। अधिक विवरण के लिए लेख का मैटर देखिए।)

सूक्ष्म जगत् की ओर

परमाणुओं और अणुओं के अन्वेषण तथा रासायनिक संयोग के नियमों की कथा

परमाणुवाद

हमारे पुरातन मनीषियों का विचार-क्षेत्र प्रत्यक्ष और सांत तक ही सीमित न था; वे अदृश्य और अनंत के विषय में भी अनेक महान् सत्यों तक पहुँच चुके थे। उन्होंने जहाँ सृष्टि की अनंत महानता को अपने ज्ञान की परिधि में समेटना चाहा, वहाँ उसकी अनंत सूक्ष्मता की समस्या को सुलझाने का भी भरसक प्रयत्न किया। जब हम किसी वस्तु को तोड़ते अथवा विभाजित करते हैं तो वह लघुतर भागों में खंडित हो जाती है। इस विभाजन की कोई हद भी है? द्रव्य के कणों की लघुता सीमित है अथवा असीम? इन विचारों ने ढाई हज़ार वर्ष पहले के भारतीय विद्वानों में पहलेपहल ❀ मानसिक उथल-पुथल मचाई थी। कपिल ने अपने सांख्य और कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में द्रव्य को परमाणुओं का बना हुआ माना, अर्थात् ऐसे लघुतम कणों का, जो आगे खंडित नहीं हो सकते। कणाद ने परमाणु को अक्षय माना और इनके विभिन्न प्रकार से मिलने से पंचतत्वों के निर्मित होने की कल्पना की। विस्तार में, इन मुनियों के अनुमान ठीक न थे, किंतु उनकी परमाणुओं की सत्ता की कल्पना मात्र ही बड़े भारी महत्त्व की थी। वास्तव में, अर्वाचीन विज्ञान परमाणुवाद पर ही टिका हुआ है। भारतवर्ष में परमाणुवाद ईसा से लगभग छः सौ वर्ष पहले प्रचलित था। यहाँ से फ़ारस होकर वह ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में यूनान पहुँचा, और वहाँ भी डेमाक्रिटस, ल्यूक्रिप्पस आदि बड़े-बड़े दार्शनिकों द्वारा उसका प्रचार हुआ। यूनान में परमाणुवाद का विरोध भी हुआ, और इस विरोधी दल में अग्रगण्य अरस्तू (३८४—३२२ ई० पूर्व) था। अरस्तू यूनान का एक बड़ा प्रभावशाली दार्शनिक था, अतएव परमाणुवाद में यूनानियों की श्रद्धा बहुत-कुछ घट गई और तब से दो हज़ार वर्ष तक, यद्यपि लोग उसे सर्वथा भूले नहीं, उसे किसी ने न उठाया। अनेक योरपियन विद्वान् फ्रांसिस बेकन, रेने डेकार्ट, पियर गैसेण्डी, राबर्ट ब्वॉयल, राबर्ट हुक, जॉन मेयो, आइज़क न्यूटन (१६७५), एम० डबल्यू. लोमनोसॉफ़ (१७४८), ब्रायन हिगिंस (१७७६) और विलियम हिगिंस (१७८६) आदि परमाणुवाद के पक्ष में विचार प्रकट करते रहे, लेकिन कोई उसमें जीवन न डाल सका। अब तक

जॉन डाल्टन

❀ देखो (१) 'हिस्ट्री आफ़ हिन्दू केमिस्ट्री'; लेखक, सर पी० सी० राय, प्रथम अध्याय; (२) 'माडर्न इनआर्गेनिक केमिस्ट्री'; लेखक, डॉ० जे० डबल्यू० मेलर, पृ० ४६।

ब्वॉयल, प्रीस्टले, लवॉयशिये आदि वैज्ञानिक रसायन को ठीक रास्ते पर ला चुके थे, और प्रयोगों द्वारा कई रासायनिक नियमों का आविष्कार भी हो चुका था। इसी समय, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, इंग्लैंड के एक साधारण स्कूल-मास्टर जॉन डाल्टन ने परमाणुवाद के विषय को फिर उठाया। न्यूटन के परमाणु-संबंधी कथनों से विशेषतः प्रभावित होकर इसने अपने अनुमान-बल द्वारा परमाणुवाद को एक ऐसा रूप दे दिया जिसके सहारे रासायनिक संयोग के नवाविष्कृत भारात्मक सिद्धांत पूर्णतः सिद्ध कर दिए जा सके। अपने परमाणुवाद के लिए कोई सीधा प्रमाण उसके पास न था, किंतु विभिन्न रासायनिक घटनाएँ उसके द्वारा इतनी सरलता से सिद्ध होती चली गईं कि विज्ञान-जगत् को उसे मान ही लेना पड़ा। यदि लवॉयशिये ने अर्वाचीन रसायन की नींव डाली तो डाल्टन ने अपने परमाणुवाद के ऐसे दृढ़ स्तंभ निर्मित किए जिन पर आज का विज्ञान निरापद खड़ा हुआ है। डाल्टन के परमाणु-संबंधी सिद्धांत इस प्रकार थे—

(१) द्रव्य बहुत ही छोटे-छोटे कणों अर्थात् परमाणुओं से मिलकर बना होता है। ये किसी भी क्रिया द्वारा आगे खंडित नहीं हो सकते।

(२) परमाणुओं का नाश नहीं हो सकता, और न वे रचे ही जा सकते हैं।

(३) एक ही मूलतत्त्व के परमाणु बिल्कुल एक-से होते हैं और उनका भार भी बराबर होता है।

(४) विभिन्न तत्त्वों के परमाणु गुणों में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और इनके भार भी बराबर नहीं होते।

(५) यौगिक "यौगिक परमाणुओं" के बने होते हैं; और एक ही यौगिक के 'यौगिक परमाणु' समान और भिन्न-भिन्न यौगिकों के असमान होते हैं।

(६) विभिन्न मूलतत्त्वों के परमाणु सरल संख्यात्मक निष्पत्तियों, यथा १:१; १:२; २:१; २:३; ३:१; आदि में ही संयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि दो तत्त्व क और ख संयुक्त होते हैं तो इस प्रकार बने हुए यौगिक में इनके परमाणुओं की संख्या इस प्रकार होगी —१ परमाणु क और १ परमाणु ख, अथवा १ परमाणु क और २ परमाणु ख, अथवा २ परमाणु क और ३ परमाणु ख, आदि।

(७) जिस भार-सम्बन्धी अनुपात में तत्त्व संयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं, वही अनुपात उस यौगिक के परमाणु-भारों में भी होता है, अतएव प्रयोगों द्वारा यौगिकों के तत्त्वों के भारीय अनुपातों को निकालकर परमाणुओं के भी आपेक्षिक भार निकाले जा सकते हैं।

डाल्टन ने 'यौगिक परमाणुओं' में विभिन्न परमाणुओं की संख्या निकालने के लिए जो सिद्धान्त बनाए वे ठीक न थे, अतएव वह न तो यौगिकों का संगठन ही और न परमाणुओं के ठीक-ठीक आपेक्षिक भारों को ही निश्चित कर सका।

रासायनिक संयोग के भार-सम्बन्धी सिद्धांत और परमाणुवाद

हम आगे देखेंगे कि डाल्टन के परमाणुवाद में क्या-क्या दोष थे और उसमें क्या-क्या संशोधन किए गए, फिर भी अनेकानेक रासायनिक प्रयोग और घटनाएँ, तथा रासायनिक संयोग के भारात्मक सिद्धान्त उसके सहारे स्पष्टतः समझा दिए जा सके—वास्तव में उनके रहस्यों का उद्घाटन ही हो गया। लोगों की आँखें खुलीं और डाल्टन के अनुमान सर्वत्र स्वीकृत कर लिये गए। तभी से वे रासायनिक चर्चा के आधार बन गए। आज हम देखते हैं कि एक भी रासायनिक घटना परमाणुओं की भाषा के बिना स्पष्टतः समझाई नहीं जा सकती।

रासायनिक संयोग के भार-संबंधी सिद्धान्त चार हैं:—

(१) द्रव्य की अविनाशिता का सिद्धान्त—जब हम बढ़ते हुए पेड़-पौधों अथवा प्राणिकलेवरों, चटकती हुई कलियों, मुरझाते हुए फूलों, जलती हुई वस्तुओं आदि को ऊपरी दृष्टि से देखते हैं तो हमें प्रत्यक्षतः यही भासित होता है कि द्रव्य का जन्म और विनाश दोनों होता है। जादू में विश्वास करनेवाले भी बहुधा समझते हैं कि मंत्रों द्वारा द्रव्य ग़ायब कर दिया जा सकता है, अथवा बना भी लिया जा सकता है। तथापि प्राचीन काल से ही कणाद, डेमाक्रिटस आदि ज्ञानियों ने द्रव्य की अविनाशिता को ही सत्य माना। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा इस नियम की परीक्षा सबसे पहले लवॉयशिये ने १७७४ ई० में की। उसने बंद पात्र में राँगा (टीन) जलाकर देखा कि भार में कोई भी परिवर्त्तन नहीं होता, अर्थात् रासायनिक परिवर्त्तन के बाद भी द्रव्य जितना पहले था उतना ही बना रहता है। यही प्रयोग अन्य ज्वलनशील पदार्थों के साथ भी किया जा सकता है। १८९३ में लैण्डोल्ट और १९०१ में हीडवीलर ने इस नियम की परीक्षा अधिक सावधानी से अनेक अन्य प्रयोगों द्वारा की। उन्होंने पहले दो ऐसे घोलों को साथ-साथ तौला जिनमें रासायनिक क्रिया सरलता से हो सकती है। फिर सावधानी से मिलाकर जब उन्होंने उन्हें फिर तौला तो

भार में कोई परिवर्त्तन न पाया। सिल्वर नाइट्रेट, पोटैशियम क्रोनेट, लेड एसेटेट और पोटैशियम आयडाइड, बेरियम क्लोराइड और सल्फ़्यूरिक ऐसिड, आदि मिलाकर ये प्रयोग सरलता से किये जा सकते हैं। डाल्टन के परमाणुवाद से यह नियम स्पष्ट हो जाता है; कारण डाल्टन के अनुसार जो परमाणु एक दूसरे पर क्रिया करते हैं, वही और उतने ही परमाणु उत्पन्न पदार्थों में भी रहते हैं, और इन परमाणुओं का न तो भार ही घट सकता है और न उनका विनाश अथवा सृजन ही हो सकता है। अतएव उत्पन्न पदार्थों का भार वही रहता है जो क्रियाशील पदार्थों का होता है। पदार्थों के नाश और सृजन का संदेह हम इसीलिए करते हैं कि या तो हम पदार्थों से वस्तुओं को और विशेषतः अदृश्य गैसों को निकलते हुए नहीं देख सकते, अथवा उनमें उन्हें मिलते हुए नहीं देख सकते (दे० पृ० १६)।

(२) **निश्चित अनुपात का नियम**—इस नियम के अनुसार **कोई भी रासायनिक यौगिक, वह चाहे कहीं भी मिले अथवा किसी भी प्रकार से तैयार किया जाय, सदैव उन्हीं तत्वों के उन्हीं भार-संबंधी अनुपातों में संयुक्त होने से बना होता है**। यथा, पानी चाहे जहाँ से लिया जाय या किसी प्रकार से बनाया जाय, उसमें सदैव हाइड्रोजन और ऑक्सिजन तत्त्व १:२ के भारीय अनुपात में संयुक्त रहते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक विभिन्न वैज्ञानिकों के प्रयोगात्मक प्रयासों द्वारा इस नियम का विकास होता रहा। इन वैज्ञानिकों में जीन रे (१६३०), आइज़क न्यूटन (१७०६), जी० ई० स्टाल (१७२०), एफ़० जी० रुएल (१७६४), सी० एफ़० वेन्ज़ेल (१७७०) और टी० बर्गमन (१७८३), विशेषतः उल्लेखनीय हैं। अंततः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जे० एल० प्राउस्ट ने इस नियम का ज़ोरों से समर्थन किया—

गे-लूज़क

"लोहे की ऑक्साइडों में, चाहे वे उत्तर से लाई गई हों अथवा दक्षिण से, अभी तक कोई अंतर नहीं देखा गया है; जापान के सिनाबार (रक्त हिंगुल) का संगठन वही होता है जो स्पेन के सिनाबार का; सिल्वर क्लोराइड, चाहे वह पेरू से लाई गई हो या साइबेरिया से, हूबहू एक ही होती है; संसार भर में केवल एक ही सोडियम क्लोराइड, एक ही शोरा, एक ही कैल्शियम सल्फेट, और एक ही बेरियम सल्फेट होता है। विश्लेषण इन तथ्यों का पग-पग पर समर्थन करता है।"

प्राउस्ट का विरोधी बर्थोले चुप हो गया, और यह नियम अटल सत्य की भाँति सदा के लिए स्थापित हो गया। इसी लिए बहुधा इस नियम को 'प्राउस्ट का नियम' कहते हैं।

डाल्टन का परमाणुवाद इस नियम की कसौटी पर भी खरा उतरा; कारण, यह नियम डाल्टन के अनुमानों द्वारा पूर्णतः प्रमाणित किया जा सकता है। डाल्टन के अनुमान कि (१) किसी विशेष यौगिक का चरम कण सदैव उन्हीं परमाणुओं की उन्हीं संख्याओं से बना होता है और (२) एक ही तत्त्व के परमाणुओं का भार वही रहता है इस नियम की व्याख्या पूर्णतः कर देते हैं। उदाहरणार्थ, कार्बन डाइऑक्साइड के चरम कण में सदैव एक कार्बन का परमाणु और दो ऑक्सिजन के परमाणु रहते हैं; और इन दोनों परमाणुओं के भार भी स्थिर रहते हैं। अतएव कार्बन डाइऑक्साइड में इन दोनों तत्त्वों का भारात्मक अनुपात सदैव वही रहेगा।

(३) **अपवर्त्य अनुपातों का नियम**—जब कार्बन-कार्बन मोनाक्साइड में परिणत होता है तो हम प्रयोगों द्वारा देखते हैं कि कार्बन के १२ भारांश ऑक्सिजन के १६ भारांशों से संयुक्त होते हैं। फिर कार्बन के कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत होने में हम देखते हैं कि कार्बन के १२ भाग ऑक्सिजन के ३२ भागों से संयुक्त होते हैं। अतएव कार्बन के उसी भार से ऑक्सिजन के जो परिमाण संयुक्त होते हैं, उसमें एक सरल निष्पत्ति अर्थात् १:२ है, और दोनों किसी संख्या के अपवर्त्य हैं। इसी प्रकार यदि हम ऑक्सिजन का भार दोनों क्रियाओं में एक ही, यथा १६, लें तो पहली क्रिया में कार्बन का भार १२ और दूसरी क्रिया में ६ हो जायगा और ऑक्सिजन के उसी भार से संयुक्त होनेवाले कार्बन के परिमाणों में एक सरल निष्पत्ति

अर्थात् २:१ होगी। जब कभी **दो तत्त्व संयुक्त होकर एक से अधिक यौगिक बनाते हैं तो इनमें से किसी एक तत्त्व के निश्चित भार से दूसरे तत्त्व के जो विभिन्न भार संयुक्त होते हैं उनमें एक सरल निष्पत्ति पाई जाती है, और ये भारात्मक संख्याएँ किसी संख्या की अपवर्त्य होती हैं।** यही 'अपवर्त्य अनुपातों का नियम' कहलाता है। नाइट्रोजन और ऑक्सिजन संयुक्त होकर पाँच ऑक्साइडें बनाती हैं, अतएव प्रयोगों द्वारा इनमें दोनों तत्त्वों के भारात्मक अनुपातों को निकालकर इस नियम का एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया जा सका। नाइट्रोजन का निश्चित भार १४ लेकर विभिन्न ऑक्साइडों में ऑक्सिजन के निम्नांकित भार पाए गए:—

नाइट्रस ऑक्साइड	८
नाइट्रिक ऑक्साइड	१६
नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड	२४
नाइट्रोजन परॉक्साइड	३२
नाइट्रोजन पेंटाक्साइड	४०

अतएव ऑक्सिजन के विभिन्न भारों में १:२:३:४:५ की सरल निष्पत्ति हुई और सभी संख्याएँ ८ की अपवर्त्य हुईं। सबसे पहले लगभग १८०२ में डाल्टन ही अपने प्रयोगात्मक निरीक्षणों की सहायता से इस नियम पर पहुँचा। इस नियम से उसके परमाणुवाद के अथवा परमाणुवाद से इस नियम के बनने में अवश्य सहायता मिली होगी। परमाणुवाद के ऊपर दिए हुए अनुमान नं० ६ से इस नियम की व्याख्या सरलता से हो जाती है। मान लीजिए कि क तत्त्व और ख तत्त्व के एक यौगिक में १ परमाणु क और २ परमाणु ख के हैं, और दूसरे यौगिक में २ परमाणु क और ३ परमाणु ख के हैं, तो पहली दशा में क के २ परमाणुओं से ख के ४ परमाणु और दूसरी में क के परमाणुओं की उसी संख्या से ख के ३ परमाणु संयुक्त होते हैं। अतः क ख के परमाणुओं में ४ : ३ की सरल निष्पत्ति हुई। सरल निष्पत्ति से मतलब यह है कि उसकी सरलतम पूर्ण संख्याएँ छोटी अर्थात् प्रायः ५ से अधिक न हों।

१८०८ में टामसन ने और १८१२ में स्वीडेन के विख्यात रासायनिक बर्ज़ीलियस ने प्रयोगों द्वारा इस नियम को पूर्णतः स्थापित कर दिया, और लोगों का डाल्टन के परमाणुवाद में विश्वास और भी बढ़ गया।

(४) पारस्परिक अनुपातों अथवा तुल्य भारों का नियम—उदाहरणार्थ, तीन मूलतत्त्वों हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और कार्बन को ले लीजिए। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन दोनों पृथक्-पृथक् कार्बन से संयुक्त होती हैं। प्रयोगों द्वारा यह निकाला जा चुका है कि हाइड्रोजन के १ भारांश और कार्बन के ३ भारांशों के संयोग से मीथेन नामक गैस का उत्पादन होता है, और ऑक्सिजन के आठ भारांश और कार्बन के उतने ही भारांशों के संयोग से कार्बन डाइ-ऑक्साइड उत्पन्न होती है। अतएव उतने ही कार्बन से संयुक्त होनेवाले हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के भारांशों में १/८ का अनुपात हुआ। अब हाइड्रोजन और ऑक्सिजन जब स्वयं आपस में संयुक्त होकर पानी बनाती हैं तो उनके भारांशों में १/८ का अनुपात रहता है। अतएव प्रथम अनुपात और इस अनुपात में १/८ : १/८ अथवा १ : १ की सरल निष्पत्ति हुई। फिर हाइड्रोजन और ऑक्सिजन जब १/१६ के भारात्मक अनुपात में संयुक्त होती हैं तो हाइ-ड्रोजन परॉक्साइड बनता है। अतएव प्रथम अनुपात और इस अनुपात में भी १/८ : १/१६ अर्थात् २ : १ की सरल निष्पत्ति हुई। यही नहीं, अब एक ऐसी क्रिया सोचिए जिसमें हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पृथकतः एक किसी अन्य तत्त्व से संयुक्त हों। गंधक का उदाहरण ले लीजिए। हम प्रयोगों द्वारा यह देखते हैं कि हाइड्रोजन का एक भारांश गंधक के १६ भारांशों से संयुक्त होकर हाइड्रोजन सल्फाइड (रसायनशाला की बदबूदार गैस) बनाता है; और ऑक्सिजन के १६ भारांश गंधक के १६ भारांशों से जब संयुक्त होते हैं तो सल्फर डाइऑक्साइड गैस उत्पन्न होती है, अतएव यहाँ गंधक के उसी भार से संयुक्त होते हुए भारों में १/१६ का अनुपात हुआ। प्रथम अनुपात और इस अनुपात में भी १/८ : १/१६ अर्थात् २ : १ की सरल निष्पत्ति हुई। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। हम देखते हैं कि **उस अनुपात का जिसमें दो तत्त्व किसी तीसरे तत्त्व के एक निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, उस अनुपात से, जिसके स्वयं परस्पर अथवा पृथक्तः किसी अन्य तत्त्व के निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, एक सरल निष्पत्ति होती है।** यही पारस्परिक अनुपातों का नियम है। ऊपर दी हुई क्रियाओं में हम देखते हैं कि हाइड्रोजन का १, ऑक्सिजन के ८ अथवा १६, कार्बन के ३, और गंधक के ८ अथवा १६ भारांश एक दूसरे से संयुक्त हो सकते हैं, अतएव इन संख्याओं को तुल्य भार *

* **तुल्य भार की आधुनिक परिभाषा इस प्रकार है—किसी तत्त्व का तुल्य भार उसके उतने भारांशों की संख्या है जो हाइड्रोजन के एक भारांश से ऑक्सिजन के ८ भारांशों से अथवा क्लोरीन के ३५.५ भारांशों से संयुक्त हो सके, अथवा उन्हें यौगिकों से हटा दे सके।**

कहते हैं, अतः यह नियम तुल्य-भारों का नियम भी कहा जाता है। जे० बी० रिक्टर महोदय ने लगभग १७६० में अपने कुछ प्रयोगों के आधार पर इस नियम की ओर पहले-पहल संकेत किया था, अतएव यह नियम बहुधा 'रिक्टर का नियम' कहलाता है। १८१०—१८१२ तक बर्ज़ीलियस ने बड़ी ही सावधानी से अनेकानेक प्रयोगों द्वारा इस नियम को पूर्णतः स्थापित कर दिया। इस नियम की व्याख्या भी परमाणुवाद के आधार पर स्पष्टतः की जा सकी। मान लीजिए क तत्त्व ग तत्त्व से संयुक्त होता है, तो डाल्टन के परमाणुवाद के छठे अनुमान के अनुसार क और ग के यौगिक के चरमकण में उसके परमाणुओं की संख्याएँ किसी सरल निष्पत्ति में ही होंगी। मान लीजिए कि यह निष्पत्ति १ : ३ है। अब मान लीजिए कि ख तत्त्व और ग तत्त्व में इसी प्रकार की निष्पत्ति १ : १ है। अतएव क और ख के उन परमाणुओं में जो ग के उतने ही परमाणुओं से संयुक्त होते हैं $\frac{1}{3}$ का अनुपात हुआ। अब चूँकि डाल्टन के अनुमान (३) के अनुसार किसी तत्व के परमाणु का भार सदैव वही होता है, अतएव क और ख के उन भारों में, जो ग के एकनिश्चित भार से संयुक्त होते हैं,

$$\frac{\text{१} \times \text{क का परमाणुभार}}{\text{३} \times \text{ख का परमाणुभार}}$$

का अनुपात हुआ। अब मान लीजिए कि जब क और ख स्वयं परस्पर अथवा किसी अन्य तत्व से मिलते हैं तो उनके संयुक्त होते हुए परमाणुओं में १ : २ की निष्पत्ति हुई, अर्थात् इन दोनों में भार-संबंधी अनुपात $\frac{\text{२} \times \text{क का परमाणुभार}}{\text{१} \times \text{ख का परमाणुभार}}$ होता है। अतएव पहले और दूसरे अनुपात में

$$\frac{\text{१} \times \text{क का परमाणुभार}}{\text{३} \times \text{ख का परमाणुभार}} : \frac{\text{१} \times \text{क का परमाणुभार}}{\text{२} \times \text{ख का परमाणुभार}}$$

= २ : ३

की निष्पति हुई, और यह निष्पत्ति सरल है।

इस प्रकार प्रत्येक बार डाल्टन का परमाणुवाद विभिन्न कसौटियों पर कसा जाने पर खरा ही उतरा। अपने परमाणुवाद को सर्वत्र स्वीकृत देखकर ७८ वर्ष की आयु में २७ जुलाई, १८४४, के दिन डाल्टन इस संसार से चल बसा। कौन जानता था कि कंबरलैण्ड का वह छोटा-सा बेढंगा स्कूल-मास्टर, जिसका पिता एक जुलाहा था, कणाद के परमाणुवाद को आगे बढ़ाकर उसे एक युगप्रवर्त्तक रूप प्रदान कर सकेगा?

गे-लूज़क का गैसीय आयतनों के संयोग का सिद्धांत

जिस समय डाल्टन अपने परमाणुवाद के निरूपण में व्यस्त था, उसी समय (लगभग १८०५ में) फ्रांस में गे-लूज़क हवा के संगठन पर प्रयोग कर रहा था। उसका साथी ए० वान हम्बोल्ट संसार के विभिन्न भागों से हवा के नमूने यह देखने के लिए ले आया था कि हवा का संगठन सर्वत्र वही होता है अथवा नहीं। इन दोनों वैज्ञानिकों ने हवा से ऑक्सिजन पृथक् करने के लिए उसे हाइड्रोजन के साथ बार-बार विस्फुटित किया, और देखा कि प्रत्येक बार ऑक्सिजन का एक आयतन हाइड्रोजन के पूरे दो आयतनों से संयुक्त होता है। इस आयतनिक अनुपात की सरलता की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। उसने सोचा, संभव है गैसों की अन्य क्रियाओं में भी यही सरलता मिले। अब तक अनेक गैसों का आविष्कार हो चुका था। उसने इस संबंध में बहुत-से प्रयोग कर डाले, और सर्वत्र उसी अनुपातों की सरलता से उसकी भेंट हुई। उदाहरणार्थ, तापक्रम और दबाव वही रखने पर हाइड्रोजन का एक आयतन क्लोरीन के एक आयतन से संयुक्त होकर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के दो आयतन बनाता है; हाइड्रोजन के दो आयतन ऑक्सिजन के एक आयतन से संयुक्त होकर भाप के दो आयतनों में परिणत हो जाते हैं; हाइड्रोजन के तीन आयतन और नाइट्रोजन के एक आयतन के संयोग से अमोनिया के दो आयतन उत्पन्न होते हैं। उसने देखा कि तापक्रम और दबाव की दशाएँ **वही रहते हुए जब गैसों में परस्पर कोई प्रतिक्रिया होती है, तो उनके क्रियाशील आयतनों में एक सरल निष्पत्ति रहती है, और उत्पन्न पदार्थ भी गैसीय हुआ तो क्रियाशील गैसों और उत्पन्न गैस के आयतनों में भी एक सरल निष्पत्ति रहती है।** गे-लूज़क ने १८०८ में अपने इस महत्वपूर्ण

एवोगैड्रो

नियम को विज्ञान-जगत् के भेंट कर दिया। स्वीडन के विख्यात रसायनज्ञ बर्ज़ीलियस ने इस नियम की व्याख्या इस अनुमान द्वारा करनी चाही कि एक ही दबाव और तापक्रम पर गैसों के बराबर आयतनों में परमाणुओं की संख्या बराबर होती है, अर्थात् सभी गैसों के परमाणु बराबर-बराबर जगह घेरते हैं। अतएव चूँकि डाल्टन के अनुसार परमाणु भी सरल अनुपात में संयुक्त होते हैं, इसलिए उनके आयतनों में भी सरल अनुपात होना चाहिए। बर्ज़ीलियस ने इस प्रकार गे-लूज़क और डाल्टन के नियमों में सामंजस्य स्थापित करना चाहा; लेकिन डाल्टन स्वयं बर्ज़ीलियस से सहमत न हो सका। डाल्टन की कठिनाई एक उदाहरण द्वारा आप भली प्रकार समझ सकते हैं। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस के दो आयतन हाइड्रोजन के एक आयतन और क्लोरीन के एक आयतन के संयोग से बनते हैं; अर्थात् बर्ज़ीलियस के अनुसार हाइड्रोजन क्लोराइड के दो परमाणु हाइड्रोजन और क्लोरीन के एक-एक परमाणु के संयुक्त होने से बनने चाहिएँ; अतएव हाइड्रोजन क्लोराइड का एक परमाणु हाइड्रोजन के आधे परमाणु और क्लोरीन के आधे परमाणु के संयोग से बनना चाहिए! ये आधे परमाणु कैसे? डाल्टन के मत के अनुसार तो परमाणु खंडित ही नहीं हो सकते! फिर इन आधे-आधे परमाणुओं का अस्तित्व कैसा? यही कठिनाई अन्य क्रियाओं में भी पड़ी। डाल्टन के अनेकों परीक्षाओं द्वारा समर्थित परमाणुवाद के सामने बर्ज़ीलियस की व्याख्या को किसी ने स्वीकार न किया। १८११ में इटली के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवोगैड्रो को यह सूझा कि यह आवश्यक नहीं कि हाइड्रोजन, क्लोरीन आदि गैसों के चरम कणों में एक-ही-एक परमाणु रहता हो। उसने अनुमान किया कि हाइड्रोजन, क्लोरीन आदि गैसों के कणों में कम से कम दो परमाणु अवश्य होने चाहिए। तत्वों अथवा यौगिकों के एक से अधिक परमाणुवाले कणों का नाम उसने 'मालीक्यूल' (Molecule) रक्खा। हम इन कणों को अणु कहते हैं। उसने कहा कि परमाणु तो द्रव्य का वह सूक्ष्मतम कण है जो रासायनिक क्रियाओं में भाग लिया करता है; किंतु अणु द्रव्य का वह सूक्ष्मतम कण है जो मुक्त अवस्था में रह सकता है और जिसमें द्रव्य के सभी गुण पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, ऑक्सिजन गैस मुक्तावस्था में अपने अणुओं के रूप में ही रहा करती है। इन अणुओं में उसके दो-दो परमाणु रहते हैं और इनके ही गुण ऑक्सिजन गैस के गुण होते हैं। लेकिन रासायनिक क्रियाओं में भाग लेनेवाले ऑक्सिजन के चरम कण उसके परमाणु होते हैं। मैग्नेशियम के एक परमाणु से ऑक्सिजन का एक परमाणु ही संयुक्त होकर मैग्नेशियम ऑक्साइड बनाता है। इस प्रकार एवोगैड्रो की दिव्य दृष्टि द्वारा अणुओं का भी भेद खुला और वे अपने वास्तविक रूप में विचार-जगत् में आ पहुँचे।

इन विचारों के आधार पर एवोगैड्रो ने बर्ज़ीलियस के अनुमान को सुधारा और स्वयं अपने महान् सिद्धान्त की घोषणा की—**तापक्रम और दबाव की उन्हीं अवस्थाओं में गैसों के बराबर आयतनों में अणुओं की संख्या एक ही होती है।** अर्थात् उन्हीं दशाओं में प्रत्येक गैसीय अणु एक ही जगह घेरता है। सुनता हूँ कि समाजवादी देशों में प्रत्येक व्यक्ति को भोजन एक ही प्रकार का मिलता है, किन्तु अणुओं के देश में प्रत्येक अणु को रहने के लिए उतनी ही जगह दी जाती है, चाहे उस 'अणु' नामक समूह में कितने ही परमाणु क्यों न हों। एवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार ऊपर दी हुई हाइड्रोजन और क्लोरीन की क्रिया में हाइड्रोजन क्लोराइड के दो अणु हाइड्रोजन के एक अणु और क्लोरीन के एक अणु के संयोग से बनते हैं, अतएव हाइड्रोजन क्लोराइड का एक अणु हाइड्रोजन के आधे अणु और क्लोरीन के आधे अणु के संयोग से बनता है। एवोगैड्रो ने अनुमान किया कि हाइड्रोजन और क्लोरीन के अणुओं में दो दो परमाणु होने चाहिएँ, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि हाइड्रोजन क्लोराइड के एक अणु में हाइड्रोजन का एक परमाणु (आधा अणु) और क्लोरीन का एक परमाणु (आधा अणु) होने चाहिए। प्रयोगात्मक निरीक्षणों द्वारा उसके ये अनुमान अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुए। यही नहीं, गैसों की सभी रासायनिक क्रियाओं में उसके सरल आयतनिक अनुपातों की व्याख्या एवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार सरलता से हो सकी। ऊपर गे-लूज़क के नियम के संबन्ध में दिए हुए तीनों उदाहरण एवोगैड्रो के सिद्धान्त के आधार पर पृ० १५३२ पर चित्रों द्वारा समझाए गए हैं। यह जानते हुए कि गैसों का प्रत्येक अणु उतनी ही (चित्र में एक कोठे द्वारा प्रदर्शित) जगह लेता है, गे-लूज़क का सरल आयतनिक अनुपातों के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कितनी सुन्दरता से हो जाता है। उसी पृष्ठ के सबसे नीचे के चित्र में यह दिखाया गया है कि जो बात एक अणु के लिए सत्य है, वही अणुओं की किसी भी संख्या के लिए भी सत्य है।

हम फिर कभी देखेंगे कि एवोगैड्रो के सिद्धान्त के द्वारा अणुओं का संगठन और परमाणुओं और अणुओं के आपेक्षिक भार सरलता से कैसे निकाल लिये जा सके।

पूर्ण कुम्भ

पुरुष सृष्टि की सबसे चमत्कारपूर्ण रचना है। सृष्टि का रहस्य एक ओर और मनुष्य-शरीर का रहस्य दूसरी ओर, ये दोनों एक समान अज्ञात और दुस्तर हैं। विश्व और शरीर इन दो किनारों के बीच में मानवी ज्ञान-सरिता का प्रवाह बहता आया है। ये दोनों एक दूसरे से अत्यन्त दूर और साथ ही अत्यन्त सन्निकट भी हैं। जिस प्रकार बीच में बहनेवाले जल के द्वारा नदी के दोनों तीर परस्पर अहर्निश चञ्चल विद्युत्-धारा से मिले रहते हैं उसी प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड को नित्य जागरणशील प्राणधारा परस्पर संयुक्त रखती है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का यह सम्बन्ध केवल देशकृत एकसूत्रता में ही नहीं है, वरन् पिण्डरूपी मनुष्य-शरीर एक बहुत सच्चे अर्थों में विश्व का प्रतिबिम्ब भी है। ईसाइयों के धर्मग्रन्थ के अनुसार मनुष्य को ईश्वर ने अपनी प्रतिमा के रूप में रचा है। यज्ञीय परिभाषा में पुरुष यज्ञ की प्रतिमा है। ब्रह्माण्ड-व्यापी सृष्टि-प्रक्रिया को यदि यज्ञ कहा जाय तो मनुष्य-शरीर उस महान् यज्ञ को समझने के लिए एक सूक्ष्म मानचित्र के समान है। दूर अथवा निकट विश्व में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के पारस्परिक मिश्रण और विश्लेषण से घटित होनेवाले जिन कार्यों के साथ हमारा परिचय है, उन सबका साक्षात् अस्तित्व मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहता है। आर्य दर्शन का यह सिद्धान्त कि जिन पञ्च महाभूतों से सृष्टि की रचना हुई है उनके ही उपादान से विधाता ने मनुष्य-शरीर के सम्भार को प्रस्तुत किया है अक्षरशः सत्य है और एक सार्वभौम तत्त्व को ग्रहण करने का सरल उपक्रम है।

विश्व के सम्बन्ध से मनुष्य की महिमा को इस प्रकार जानने का फल भारतीय दर्शन में अत्युत्तम हुआ है। अनन्त ब्रह्माण्ड की तुलना में एक मनुष्य कितना स्वल्प है! परन्तु इस स्वल्पता अथवा "क्षुद्रता" का अनुभव मनुष्य के मन को कातर नहीं बना सका, अर्थात् मानव ने विश्व की दुर्धर्ष महत्ता के समक्ष अपने को रखकर भी दीनता को अङ्गीकार नहीं किया। सच पूछिए तो विश्व की तुलना में एक मनुष्य का अस्तित्व ही क्या; जहाँ कोटानुकोटि मनुष्यों के जीवन-मरण का चक्र अनन्त काल की दृष्टि से कीट-पतङ्गों के जीवन के समान अस्थिर है; जहाँ देश और काल के अनन्त प्राङ्गण में एक मानव रजकण के समान भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ यदि मनुष्य की जीवनगाथा एक क्षुद्र और हेय कहानी के रूप में प्रकट होकर रह जाती तो भी कुछ आश्चर्य न था। परन्तु यहीं पर भारतीय दर्शन की विजय है। ज्ञानरूपी तराज़ू के जिस एक पलड़े में यहाँ मनुष्यों ने महान् विश्व को तौलने का उपक्रम किया था उसी के दूसरे पलड़े में उन्हीं बट्टों के समकक्ष उन्होंने मनुष्य को ला बिठाया। उन्होंने अपने ज्ञानचक्षु से मनुष्य में विराट् देवत्व के दर्शन किए। उनकी दृष्टि में ब्रह्माण्ड के समस्त देव इस मनुष्य-शरीर में उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार गौएँ गोष्ठ में वास करती हैं। इसलिए जो ज्ञानी है उसकी दृष्टि में यह पुरुष ब्रह्म का रूप है—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।

[अथर्व० ११।८।३२]

कवि के शब्दों में

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं॥ [जायसी]

यह मनुष्य-शरीर चौदहों लोकों का प्रतिबिम्ब है। अथवा जिसको कवियों ने केवल साढ़े तीन हाथ का सरोवर (अहुठ हाथ तन सरवर) कहा है उसमें मानों समस्त ब्रह्माण्ड को तृप्त करनेवाला अमृत-जल भरा हुआ है। मनुष्य की महिमा को व्यक्त करनेवाली यह वीर्यवती वाक् भारतीय दर्शन में बारम्बार सुनाई पड़ती है। भगवान् वेद-व्यास ने कहा है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

[शान्ति-पर्व १८०।१२]

अर्थात्, यह रहस्य-ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। इस दृष्टि को लेकर हम मनुष्य को प्रत्येक संस्थान के मध्यवर्ती बिन्दु के रूप में देखने लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के क्षेत्र में होनेवाले जो अनेकविध आयोजन हैं, जिन कार्यों का सूत्रपात्र कल्याणमयी अभिलाषाओं के साथ हमारे चारों ओर होता रहता है, उन सबकी कसौटी मनुष्य है। जब कभी मनुष्य अपने इस गौरवपूर्ण आसन से पदच्युत् कर दिया जाता है तभी वह मानवी उद्योगों का अधिपति न रहकर उनका दास बन जाता है। सच तो यह है कि जिस प्रश्न के उत्तर का नाता मनुष्य से टूट जाता है वही प्रश्न मनुष्य को अत्यन्त क्षुद्र बन्दी के रूप में हमारे सामने ला खड़ा करता है। दुर्भाग्य से मानों इस समय मनुष्य को स्वयं अपने देवत्व से वैर हो गया है। विश्व की पूर्णता और चमत्कारों की खोज निकालने की जैसी उत्कट अभिलाषा इस समय प्रकट की जा रही है उसका एक अंश भी यदि मनुष्य की अतुल दैवी शक्तियों को प्रकट करने में व्यय किया जाता तो हमारे मानसिक जगत् में इस प्रकार की दरिद्रता देखने में न आती। इस युग की जो मनुष्य-सम्बन्धी परिभाषा है वह उस वैदिक कल्पना के सामने कितनी हीन है जिसमें पुरुष को अमृत-आनन्द से परिपूर्ण, इससे परितृप्त और समस्त न्यूनताओं से हीन कहा गया है—

अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भू

रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः [अथर्व० १०।८।४४]

वस्तुतः आत्मा की इस प्रकार की पूर्ण कल्पना के प्रति आस्था प्रकट करते हुए वर्त्तमान युग के द्विपाद प्राणी को संकोच प्रतीत होता है।

भारतीय विचारकों ने मनुष्य-शरीर की विचित्रता को प्रकट करने के लिए कई प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग किया है। 'हे अर्जुन यह शरीर एक क्षेत्र है। इस क्षेत्र के व्यवहार को जो भली भाँति समझता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।' बुद्ध ने कहा—हे भारद्वाज! यह जो आत्मा की खेती है इसका बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है और फल प्रज्ञा है। शरीर का संयम, वाणी का संयम और आहार का संयम ये इस क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं। मनुष्य का पुरुषार्थ बैल है और उसका मन जोत है। जो इस प्रकार की खेती करता है वह अमृत की फसल उत्पन्न करता है और दुःखों से छूट जाता है —

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला।

एतं कसी कसित्वान सब्ब दुःखा मुपच्चति॥

अथवा यह शरीर एक देवरथ है जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़ों को मन की रास से बुद्धिरूपी सारथी मार्ग में नियन्त्रित करता रहता है। यह रथ उस रथी की महिमा को प्रकट करता है जो इसका अधिष्ठाता है। जिन घोड़ों की बागडोरों को दृढ़ संकल्पवान् मन प्रेरित करता है, उस रथ की अद्भुत महिमा को लोक में कौन नहीं जानता। एक सफल रथी समस्त मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन करता है। हर एक मनुष्य-समुदाय यह अभिलाषा करता है कि हमारे मध्य में इस प्रकार के अध्यात्म-रथ पर बैठनेवाले महारथी विजयशील हों। अथवा यह शरीर एक दैवी नाव है जिसमें उत्तम इन्द्रियरूपी पतवार लगे हुए हैं, जिस पर आरूढ़ होकर हम भवसागर के पार स्वस्तिप्रद लोक को प्राप्त कर सकते हैं (दैवीं नावं स्वरित्रां ...... अस्रवन्तीमारुहेम स्वस्तये)।

घट

इसी प्रकार की एक मधुर कल्पना यह है कि यह शरीर पूर्ण घट के समान है जिसमें आयुरूपी जल अपने उन रहस्यपूर्ण चमत्कारों के साथ भरा हुआ है जिनके द्वारा सृष्टि और प्रजनन के कार्य प्रवृत्त हो रहे हैं। अपनी भाषा में जब हम भगवान् को घट-घटव्यापी कहते हैं, तब अनजान में ही एक बड़े दार्शनिक तत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं। यह शरीर घट है या मिट्टी का बना एक भाँडा है, परन्तु चैतन्य के अधिष्ठान से यह पूर्णातिपूर्ण सुवर्णकलश से भी अधिक मूल्यवान् और महिमाशाली है। जायसी ने कहा है—

माटी कर तन भाँडा, माटी महँ नव खंड।

जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड॥

अर्थात् शरीररूपी बर्तन मिट्टी का बना हुआ है। इस मिट्टी की रचना में अपूर्व कारीगरी है, जिसमें पृथ्वी के नौओं द्वीपों का चमत्कार भरा हुआ है। जो इस (मिट्टी के) शरीर को लेकर इसके साथ ठीक खेल खेलता है, उसकी मिट्टी में से प्रचंड प्रेम की आग प्रकट हो जाती है। कवि की दृष्टि में प्रेम ही मानवी चेतना का सर्वोत्तम प्रतीक है। प्रेम अपने उदात्त अर्थों में आत्मा की अमर विभूति है, जो एक शरीर में प्रकट होकर विश्व को अपने उदार अंक में भर लेना चाहती है। सीमित घट को असीम विभूति का वरदान प्रेम के संकल्प से हो प्राप्त होता है। इस उच्च भूमिका में आत्मदर्शन से जनित मानसिक स्थिति को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार की दिव्य भावना का अधिष्ठान यह शरीर है। यही पूर्ण मानव की पूर्णता के आविर्भाव का रंग-मंच है। महाकवि उमर ख़ैय्याम ने मानव-देह को एक मिट्टी का कूज़ा मानकर अपने कूज़ेनामे में

इसकी अमरता का वर्णन किया है—यह भाँड़ा क्या है और इसको गढ़नेवाला कुम्हार कौन है? क्या यह कभी सम्भव है कि जिसने इस कूज़े को इतने मनोयोग से रचा है, वही इसे नाशवान् कल्पित करेगा!

भारतीय कलाकारों ने पूर्ण कुम्भ या पूर्ण कलश के रूप में मनुष्य-विषयक इस मधुर कल्पना को चित्रित किया है। पूर्ण कुम्भ के उद्ग्रीव मुख पर प्रकट होनेवाले पुष्प और पल्लव जीवन-समृद्धि के द्योतक हैं।

इस कलश की पूर्णता ध्यान देने योग्य है। स्वर्ग और पृथ्वी के बीच में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इसमें न हो। पाप और पुण्य, गुण और दोष एक साथ यहाँ रहते हैं। कहा जाता है कि एक ही समुद्र के मन्थन से विष और अमृत का जन्म साथ-साथ हुआ था। दैवी संकल्पों से युक्त मन का निवास इसी शरीर में है। साथ ही दैवी सृष्टि को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर देनेवाले आसुरी भावों की अभिव्यक्ति भी इसी पूर्ण घट से होती है। कौमार काल का मनोहर सौन्दर्य इसी पूर्ण घट के जल में प्रकट होता है। इसी में यौवन को लुप्त करनेवाली जरा का बीज भी विद्यमान है, जिसके कारण यह शरीर समस्त अवयवों के साथ पके फल की भाँति जीर्ण हो जाता है। अथर्ववेद के ऋषि की दृष्टि में स्वप्न और तन्द्रा ने, पाप और निर्ऋति ने इस मर्त्य शरीर में उसी प्रकार अपना निवास कल्पित किया है जिस प्रकार पुण्यात्मा देवों ने। स्तेय और दुष्कृत यहाँ उसी प्रकार अपना अधिकार जमा कर बैठे हैं जिस प्रकार सत्य और यश। विद्या और अविद्या, निन्दा और अनिन्दा, श्रद्धा और अश्रद्धा, सब ने शरीर में प्रवेश किया है। आनन्द और प्रमोद, हँसी और ख़ुशी, नृत्य और गीत सभी शरीर में उपस्थित हैं। अनेक प्रकार के मधुर आलाप और विषम प्रलाप इस शरीर में प्रविष्ट हुए हैं। प्राण और अपान, व्यान और उदान, चक्षु और श्रोत्र, वाक् और मन, सब का समवाय शरीर में है। अनेक प्रकार के आशीर्वाद और विविध अभिलाषाएँ, विविध प्रकार के चित्तज संकल्प इस शरीर के आश्रय से ठहरे हैं—

चित्तानि सर्वे संकल्पा : शरीरमनु प्राविशन्।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्॥

[अथर्व० ११।८]

इस प्रकार समस्त सृष्टिमूलक प्रवृत्तियों का एकत्र समवाय इस पुरुष में है। क्षुधा और तृष्णा सब भूतों में एक समान है। दुर्गासप्तशती के मनीषी लेखक ने मनुष्य मात्र की इस मौलिक एकता को भली प्रकार समझ लिया था। यदि सृष्टि की मूलधारा को, जिसके वशवर्त्ती हम सब हैं, एक देवी कहा जाय तो मनुष्य का विश्लेषण करते हुए हम उसके विविध रूपों का सर्वत्र दर्शन कर सकते हैं—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस प्रकार के वर्णन का क्रम दूर तक चला गया है। इनमें से प्रत्येक श्लोक एक-एक फ़ोटो-चित्र के समान मानव की मूलभूत विशेषताओं को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। जो देवी सब भूतों में बुद्धि, स्मृति, दया, तुष्टि, शक्ति, भ्रान्ति, क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, चेतना आदि अनेक रूपों में स्थित है वही इस सृष्टि की प्रेरक माया-शक्ति है। वह प्रत्येक चेतन प्राणी में अपने विविध रूपों से प्रकट हो रही है।

मनुष्य की समस्त शक्तियाँ देवी के स्वरूप की तरह अनन्त हैं। इस पूर्ण घट के कृत्स्न माहात्म्य को किसी पुस्तक के आवरणपृष्ठों में सीमित नहीं किया जा सकता। इसलिए समस्त ज्ञान-विज्ञान पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी पहेली बना हुआ है। मनुष्य के प्रकट और अन्तर्हित मन की शक्तियों की, उसकी प्रज्ञा और कल्पना की कोई इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती। मनुष्य के लिए यथार्थतः कहा जा सकता है कि उसका स्वरूप 'पूर्ण' है, जिसका प्रादुर्भाव भी पूर्ण तत्त्व से हुआ है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्वाचीन विज्ञान की उपासना में हम मनुष्य की इस पूर्णता और श्रेष्ठता को भौतिक जगत् की श्रेष्ठता की कल्पना करते हुए प्रायः भूल गए हैं। मनुष्य का अनुसन्धान हमें अन्तर्मुखी बनने की ओर प्रेरित करता है, जड़ जगत् का अनुसंधान करते हुए हम बाह्य प्रकृति में श्रान्त होते रहते हैं। आज समस्त मानव-जाति को ही इस विषय में अपना दृष्टिकोण परिष्कृत करने की आवश्यकता पड़ गई है। मानवी श्रेष्ठता और पूर्णता की उपासना किए बिना अन्य किसी प्रकार के विधानों से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। मनुष्य क्या है? यह प्रश्न प्रत्येक युग में हमारे द्वार पर टकराता है। इसके समीचीन समाधान पर ही सभ्यता

के विकास का स्वरूप निर्भर रहता है। जिस रूप में इस प्रश्न का उत्तर किसी जाति ने समझा, उसका समस्त इतिहास उसी रंग में रँग गया। यह प्रश्न मौलिक है, अन्य सब विषय गौण हो जाते हैं। सभ्यता के उषःकाल में वैदिक ऋषियों ने 'मनुष्य क्या है' इस पहेली पर विचार करते हुए मनुष्य में अन्तर्हित चेतन अंश पर ध्यान दिया। उसको मूल्यवान् मानकर उसी की प्राप्ति के लिए उन्होंने प्रयत्न किया। उस सभ्यता का उच्चतम ध्येय यही रहा कि मनुष्य के दैवी स्वरूप का साक्षात्कार किया जाय। उस साहित्य में सैकड़ों प्रकार से यही तत्त्व प्रगट किया गया है। 'आत्मानमुपास्स्व', आत्मा की उपासना करो; 'आत्मानं विद्धि', आत्मा को जानो, इसी मूल मंत्र की प्रेरणा से वैदिक दर्शन ओत-प्रोत है। आत्मा को जानना ही सबसे बड़ा लाभ है; आत्मा को बिना जाने इस लोक से जाना विनाश है। आत्मा के लिए यह लोक प्रिय होता है। आत्मा के लिए ही परलोक भी प्रिय लगता है। आत्मा के लिए ही स्त्री, पुत्र, धन, प्रजा, राज्य सब प्रिय लगते हैं। आत्मा यदि केन्द्र में नहीं है तो सब शून्य है। आत्मा प्रत्येक शरीर में अमृत का केतु या झंडा है। उस अमृत की उपासना सर्वोपरि धर्म है। आत्मा ही समस्त आनन्द का स्रोत है। आत्म-निरत रहने में जो सुख है वह राज्य, परिवार अथवा अन्य किसी भी लौकिक पदार्थ में नहीं है। आत्मा ही सब से पूर्व में था। वही विविध रूपों में बन गया है। वही आत्मा मैं हूँ—'सोऽहमास्मि'। यह मंत्र मनुष्य के स्वरूप को कितने निश्चित और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रहा है। 'हे श्वेतकेतु, तुम वही हो—तत्त्वमसि, श्वेतकेतो'। इस घोषणा में कितना विश्वास है! पुरुष का स्वरूप निर्धारित करने में यहाँ तनिक भी संदेह या संशय जान ही नहीं पड़ता और न किसी प्रकार बुद्धि का आयास ही प्रगट होता है। मानों यह महनीय अनुभव स्वर्गीय ज्योति के समान लोकान्तर से आकर तत्कालीन मानवों के हृदय में प्रविष्ट हो गया था। इतना आत्मविश्वास, ऐसी आस्था, इतनी प्रबल श्रद्धा जैसी उपनिषदों में है, संसार के अन्य किस साहित्य में मिल सकती है? कौन इस प्रकार पत्थर पर लकीर खींचकर कह सका है—'जब मनुष्य आकाश को चमड़े की तरह लपेटकर उसका तकिया बनाने में सफल होंगे, तभी यह संभव होगा कि देव को जाने बिना भी दुःख का अन्त हो जाय'—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

आज तक आकाश का वेष्ठन और दुःख का अन्त दोनों अप्राप्त आदर्श बने हुए हैं। ब्रह्मवादी लोग कहते हैं—ज्योति को ढकनेवाला जो आवरण है, उसको दूर करो। हम स्वराज्य के लिए देव को देखना चाहते हैं। देव ही ब्रह्म है जिसके ज्ञान से श्वेताश्वतर अमर हो गया था। नचिकेता ने अपने तपःपूत मन से मनुष्यरूपी पहेली को सुलझाने का जो अद्भुत प्रयत्न किया था वह आज भी हम सबके लिए एक प्रकाश का मार्ग बना रहा है। उसको जानकर हमारे मन में अपने चैतन्य स्वरूप के विषय में श्रद्धा जाग उठती है। इस शरीर में ही ब्रह्म का अधिवास है। शरीर के अभ्यन्तर से उसको ऐसे प्राप्त करना चाहिए जैसे मूँज में से सींक को निकालते हैं। इसके लिए धैर्य से प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य ने अपने ब्रह्मपद को जानने का जो प्रयत्न किया, उससे वह ब्रह्मप्राप्त, विरज और अमर बन गया। यह कल्पना कि अन्न और जल से ही मनुष्य जीवित रहता है, सत्य हो तो भी कितनी क्षुद्र है। एक पाव सत्तू के आश्रित मनुष्य का जीवन है, यह पुरुष की परिभाषा कुछ विचारकों ने प्रस्तुत् की है, परन्तु इसका आदर्श जो मानव है उसका मूल्य भी इतना ही संकुचित रह जाता है। इस दृष्टि में मानव एक यंत्रमात्र रह जाता है। यंत्रशक्ति के नियमों से संचालित मनुष्य कितना सीमित और हेय है!

आज हम क्षुधा-पिपासारूपी देवी की आराधना को ही युगधर्म मानने लगे हैं। हमारी शिक्षा और दीक्षा के आदर्शों को इस दृष्टिकोण ने बहुत दूर तक प्रभावित कर दिया है। बुद्धि और मन का कार्य करनेवाले मनुष्यों की तौल भी उदर का पोषण करनेवाले बट्टों से की जाती है। अथवा स्वयं मनुष्य ने ही अपने दैवी अंश को कुछ चाँदी के टुकड़ों के बदले में बेंच डाला है। एक फ्रेंच विचारक ने इस स्थिति को युग का सबसे दारुण विश्वासघात (The Great Betrayal) कहा है। हमारी वेधशालाओं ने दूरातिदूर नक्षत्रों को पहचानने का तो प्रयत्न किया, परन्तु समीपवर्ती मनुष्य को देखने का उचित प्रयत्न नहीं किया। यदि विश्व का नियंत्रण किसी प्रज्ञावान् व्यक्ति के हाथों में सौंप दिया जाय तो उसका सर्वप्रथम कर्त्तव्य यही होगा कि समस्त विज्ञानमंदिरों को इस बात के लिए विवश करे कि वे मनुष्य की महिमा का आविष्कार और अनुभव करें जिससे अवरुद्ध मानव स्वक्षेत्र में अपना उचित आसन फिर ग्रहण कर सके।

पृथ्वी की कहानी
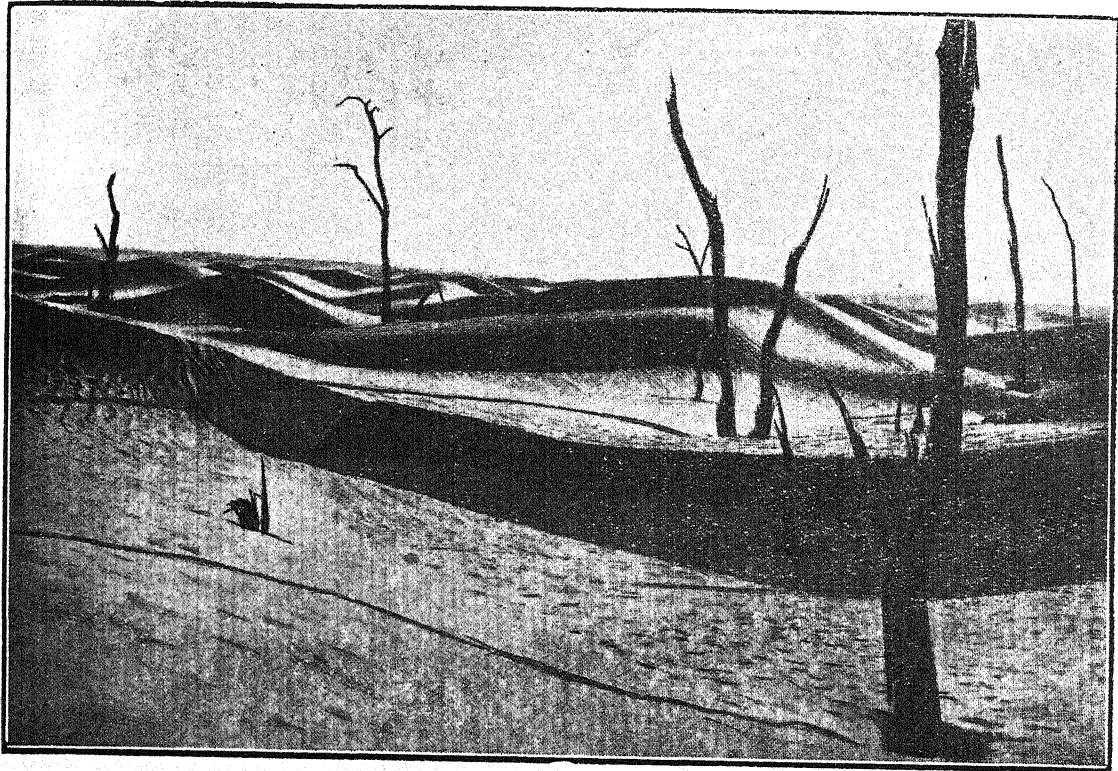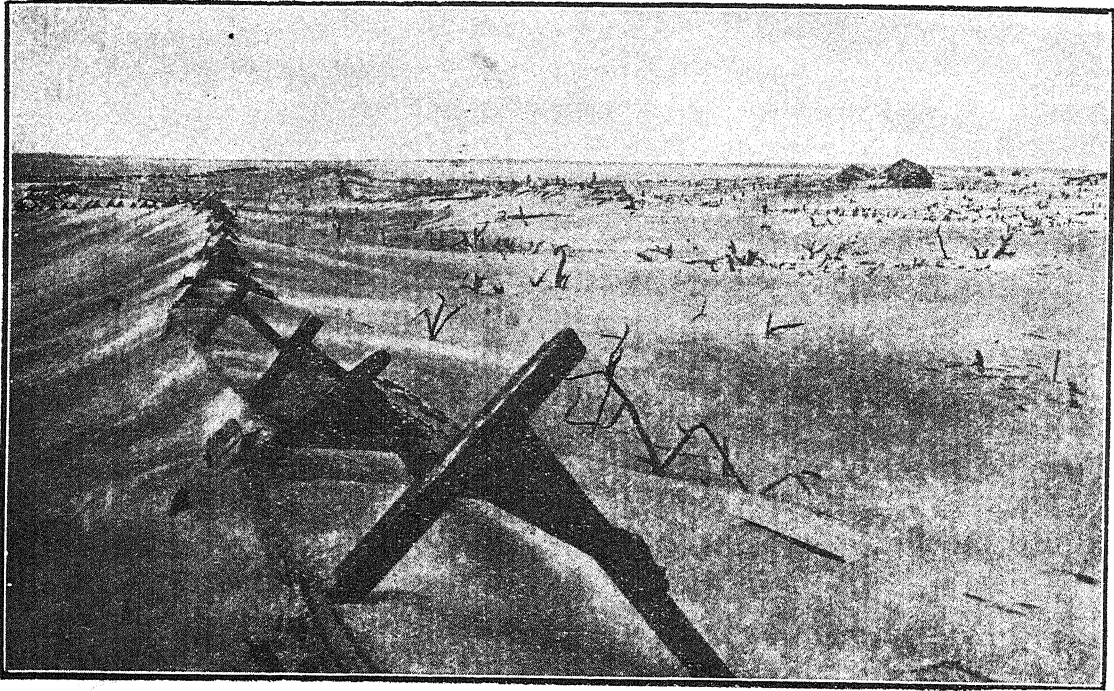
वायु की प्रतिक्रिया से धरातल के उलटफेर के दो दृश्य

(ऊपर) समुद्र की लहरों द्वारा किनारे जमा की हुई बालू को उड़ा-उड़ाकर वायु ने मीलों तक किनारे की भूमि को पाट दिया है। (नीचे) पवन की मार से सारा जंगल ख़त्म हो गया है और उसकी यादगार में कुछ पुराने पेड़ों के नंगे ठूँठ ही रह गए हैं। बालुका-स्तूपों और बालू की लहरों पर ध्यान दीजिए।

वायु के प्रभाव से चट्टानों का विखण्डन और क्षय

बालुका-स्तूपों और लोयस मिट्टी की रचना

वायु की तरंगों का पृथ्वी की रचना पर सीधा और परोक्ष दोनों ही प्रकार से भूतत्त्विक प्रभाव पड़ता है। मौसम और जलवायु के परिवर्त्तन में वायु का प्रमुख भाग रहता है, और मौसम और जलवायु के परिवर्त्तन से न केवल चट्टानों की मौसमी क्षति ही होती है वरन् जलधाराओं द्वारा स्थल की क्षति भी इसी के प्रभाव से होती है। वायु के कारण ही जलमण्डल में तरंगें और धारायें उत्पन्न होती हैं जिनके कारण तटवर्त्तीय स्थल की क्षति होती रहती है और नदियों और जलधाराओं के द्वारा बहाकर लाया गया सूक्ष्मकणीय पदार्थ जलमण्डल की तली में समरूप से वितरित होता रहता है। यदि वायु का केवल इतना ही प्रभाव होता तब भी उसका महत्त्व काफ़ी होता। परन्तु इसके अतिरिक्त भी वायु स्वयं स्थलीय चट्टानों को विखण्डित और चूर्ण करता हुआ उनके कणों का वितरण करता रहता है।

वायु के द्वारा विखण्डन की क्रिया दो प्रकार से होती है। धरती के असंगत कण (धूल, मिट्टी और बालू) वायु के झोंकों की मार से उखड़-उखड़कर कोसों दूर जा पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया के साथ-साथ दूसरी क्रिया भी होती है। वायु की झोंक में उड़े हुए कण परस्पर संघर्ष करते, मार्ग की धरती पर बिछे रोड़ों और पत्थरों से टकराते, उनको रगड़ते और खरोंचते हुए जब आँधी के वेग से आगे बढ़ते हैं तब धरातल की चट्टानों से तथा बिखरे हुए शिलाखण्डों से नये-नये कण भी उखाड़कर अपने साथ लेते जाते हैं। यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार जलधारा के द्वारा मार्ग की चट्टानों के क्षय की होती है।

वायु के द्वारा मिट्टी और धूल उन स्थानों पर बहुत कम उड़ती हैं जहाँ पर वर्षा प्रचुर मात्रा में होती है या अति वृष्टि होती है। इस कारण ऐसे प्रदेशों में धूल और मिट्टी उड़ने का प्रभाव अदृश्य-सा होता है। वहाँ घास तथा अन्य वनस्पतियाँ धरती को ढाँपे हुए उसकी रक्षा करती हैं। जहाँ पर घास और पेड़-पौधे नहीं होते, उन प्रदेशों
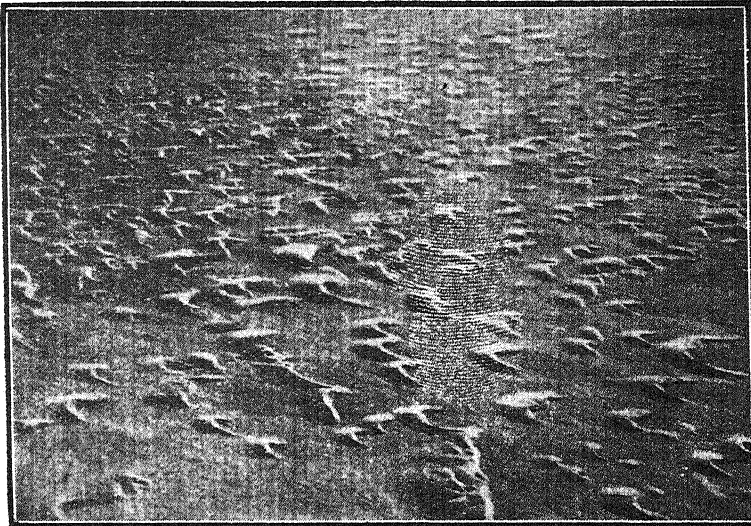
संसार के सबसे विशाल मरुप्रदेश सहारा के बालूका-स्तूपों का वायुयान द्वारा ऊँचाई से लिया गया एक फ़ोटो। ये वायु की ही प्रतिक्रिया से बनते-बिगड़ते रहते हैं। इनमें से कई सौ-डेढ़सौ फ़ीट तक ऊँचे हैं!

के मिट्टी के कणों तथा बालुकणों की रक्षा जल के द्वारा होती है, जो इन कणों को संगठित किये रहता है। परन्तु सूखे प्रदेशों में मार्ग, सड़क और खेतों तथा मैदानों से धूल के उठते हुए घने बादलों के कारण घरों में गर्द की जो मोटी-मोटी तहें जम जाती हैं, उनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि वायु के प्रकोप से किस प्रकार धरातल का प्रचुर अंश उड़कर स्थानान्तरित हो जाता है। समुद्र-तट की बालुकाराशि भाटा होने पर सूखने लगती है। वायु इन सूखे कणों को शनैः-शनैः उड़ा-उड़ाकर किनारों की सूखी भूमि पर दूर तक फैला देती है, और ज्वार की पहुँच के बाहर होने के कारण ये कण लौटकर सागर में नहीं पहुँच पाते, वरन् स्थल की ओर ही बढ़ते रहते हैं। तूफ़ान आने पर भी बालुकाराशि की मोटी तह किनारों के ऊँचे स्थलों पर जम जाती है। सूख जाने पर इसके महीन कण उड़ते हुए स्थल की ओर बढ़ जाते हैं। नदियों के किनारे वैशाख-जेठ की दोपहर में चलनेवाली लू किस प्रकार बालू के बादल उड़ाती है, जिससे कि मार्ग में चलना तक दूभर हो जाता है, यह हमारे युक्तप्रान्त-निवासी भली भाँति जानते हैं।

पश्चिमी युक्तप्रान्त में ग्रीष्म ऋतु में आनेवाली आँधियों से न केवल वायुमण्डल किरकिरा हो जाता है, वरन् सैकड़ों मील के क्षेत्रफल में बालू और मिट्टी की महीन तह जम जाती है। ये आँधियाँ सिन्ध, बलूचिस्तान और राजपूताने के मरुस्थलों तथा पंजाब के उन प्रदेशों से आती हैं जहाँ वर्षा का अभाव रहता है। राजपूताने के अधिकांश भाग वर्षाविहीन रहते हैं। वहाँ भूमि पर न घास-पात होती है न जल ही रहता है, जो सूक्ष्म कणों को उड़ने से बचाएँ। फलस्वरूप जब मौसम के प्रभाव से चट्टानों के क्षत-विक्षत खण्ड उड़ते हैं तब वे धरातल को भी खरोंचते जाते हैं और खरोंचे हुए कणों को बटोरकर आँधी के रूप में धूल के गुब्बार उड़ाते हुए तब तक दूर तक चले जाते हैं जब तक वायुमण्डल के जल से उनके कण भीगकर भारी हो जाने के कारण गिर नहीं पड़ते।

नदियों के द्वारा कछारों में जमा किया हुआ पदार्थ (महीन मिट्टी और बालू) आँधियों के द्वारा उड़ाकर कहीं का कहीं पहुँचा दिया जाता है। धूल और मिट्टी के स्थानान्तरित होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वेग-पूर्ण आँधी ही चले। शांत वातावरण के समय भी गर्मी की अधिकता से धरातल के पास की वायु तपकर ऊपर उठती है और ज़ोरों से घूमती हुई भँवर के रूप में धूल को स्तम्भ-रूप में नचाती हुई मैदान में दूर तक बढ़ा ले जाती है। सूखे प्रदेशों में इस प्रकार के नाचते हुए धूलि-स्तम्भ किसी भी ग्रीष्म ऋतु की दोपहर के समय अनेकों देखने में आते हैं। मध्य एशिया, अफ़्रीका और राजपूताने के मरुस्थलों में चलनेवाली आँधियों के कारण ग्रीष्म ऋतु में लोग यात्रा करना पसन्द नहीं करते।

सहारा मरुस्थल की आँधियों द्वारा उड़ाई गई धूल भूमध्य-सागर को पार करती हुई बहुधा योरप के दक्षिणी तट तक पहुँच जाती है! मार्ग के सागर में चलनेवाले जलयानों के डेक इस धूल से भर जाते हैं। अफ़्रीका के लीबिया के विशाल मरुस्थल का अधिकांश क्षेत्रफल बड़े-बड़े रोड़ों और शिलाखण्डों से पटा पड़ा है। एक समय ये रोड़े और पत्थर महीन बालू के पर्त में छिपे हुए थे। परन्तु आँधियों के वेग ने महीन कणों को उड़ाकर दूर पहुँचा दिया और बड़े-बड़े खण्ड भूमि पर जमे हुए रह गए हैं। भूतत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि राजपूताने के मरुस्थल से आनेवाली धूल और बालू की मात्रा प्रति वर्ष बढ़ती ही जाती है और इसकी पतली तह प्रति वर्ष युक्तप्रान्त के उपजाऊ मैदानों पर जम जाती है। भय यह है कि यदि इसी प्रकार मरुस्थल से आनेवाली धूल की मात्रा निरन्तर बढ़ती रही तो इस धूल की तह की मोटाई भी बढ़ती जायगी और एक दिन ऐसा आ सकता है कि युक्तप्रान्त के उपजाऊ मैदान धूल से भरकर स्वयं ही मरुस्थल प्रदेश-से हो जायँगे! यह असम्भव नहीं है। गोबी के मरुस्थल से उड़नेवाली धूल का अधिकांश उत्तरी चीन की पहाड़ियों और मैदानों पर छा जाता है। सहस्रों वर्षों से इस धूल के उड़कर जमा होने से उत्तरी चीन के मैदानों पर बालुका-राशि की मोटी तह जमा हो गई है।

प्रति वर्ष मरुस्थल से उड़नेवाली धूल की मात्रा का ठीक-ठीक परिमाण निकालना असम्भव-सा है, तथापि यह विश्वास किया जाता है कि प्रचुर वर्षा के प्रान्तों में जल-धाराओं द्वारा की गई क्षति की अपेक्षा मरुस्थल में होने-वाली क्षति की मात्रा बहुत ही कम होती है। सूखे प्रदेशों में भी आँधी की अपेक्षा जलधारा द्वारा अधिक क्षय होता है। जल और वायु के द्वारा प्रदेशों के क्षत होने में एक मुख्य अन्तर यह है कि जलधारा ऊँचे प्रदेशों से काटकर लाया हुआ पदार्थ निचले प्रदेशों में जमा कर देती है, परन्तु यह सब पदार्थ उसके कछार और प्रभुत्व के प्रदेश ही में रहता है। वायु इसके विपरीत धूल को उड़ाकर मरुस्थल की सीमा से बहुत परे पहुँचा देती है।

वायु के द्वारा उड़ाए गए धूलिकणों की मार से चट्टानों के पर्त उसी प्रकार घिस जाते हैं जिस प्रकार रेती की धार से लकड़ी घिसती है। वायुविताड़ित धूल के प्रभाव से समुद्र-तट के मकानों की खिड़कियों के काँच एक ही आँधी के पश्चात् धुँधले पड़ जाते हैं। धूलिकणों के झोंकों से काँच पर असंख्य खरोंचों के चिह्न बन जाते हैं, जिससे काँच धुँधला हो जाता है। बहुत-से मरुस्थलों में वायु के थपेड़ों की मार इतनी प्रचण्ड होती है कि टेलीग्राफ़ के लकड़ी के खम्भे लगाना असम्भव हो जाता है। काठ के खम्भों के धूल की मार से कटकर नष्ट हो जाने से भी अधिक आश्चर्य-जनक इस्पात की रेल की पटरी का क्षीण हो जाना है, जो कतिपय रेगिस्तानों में बहुधा देखा गया है। आँधी की धूल में घिसने और खरोंचने की इतनी प्रचण्ड शक्ति का कारण उसमें स्फटिक (Quartz) नामक प्रस्तर के कणों का पाया जाना है। स्फटिक-कण बहुत कठोर तथा तीक्ष्ण धार-वाले होते हैं।

वायु या आँधी की मार से घिस और रगड़कर बनाई गई एक विशाल प्राकृतिक खंभानुमा चट्टान का दृश्य

एकदम शुष्क प्रदेशों में, जहाँ वनस्पति और घास-पात का नितान्त अभाव हो और जहाँ आँधी का प्रकोप नित्य ही रहता हो तथा धूल में कठोर स्फटिक-कणों की प्रचुरता हो, अधिकतर वायु के झोंकों के प्रभाव से चट्टानों का क्षय और विखण्डन होता है। ऐसी परिस्थितियाँ लीबिया के मरुस्थल में पूर्णतया पाई जाती हैं। इस प्रदेश में लगातार ग्यारह वर्ष तक वर्षा की एक बूँद भी नहीं पड़ी! दो-चार नख़लिस्तानों को छोड़कर, जो प्राकृतिक सोतों के पास बन गये हैं, शेष सम्पूर्ण प्रदेश बिना घास-पात का एकदम उजाड़ खण्ड है। उत्तर-पश्चिम से सदैव प्रचण्ड आँधी चला करती है, जिसके वेग को रोकने के लिए कोई पहाड़ भी नहीं है। उत्तरी भाग में बालू की कुछ चट्टानें (Sand-stones) धरती के ऊपर निकली हुई पाई जाती हैं, जो शीघ्र ही विखण्डित होकर चूर-चूर हो जाती हैं और विखण्डित कण आँधी के साथ मिलकर उसे और भी तीक्ष्ण और प्रचण्ड कर देते हैं। इस प्रदेश के दक्षिणी भाग में चिकनी और ठोस चूने की चट्टानें हैं। इस आँधी के प्रकोप से इन चट्टानों के ऊपर का धरातल बराबर घिसता और रगड़ खाता रहता है। फलस्वरूप चट्टानों का ऊपरी भाग चिकना और नालीदार बन जाता है। इन चट्टानों में यदि कोई प्रस्तर-विकल्प-जैसी कठोर वस्तु हुई तो चारों ओर की चट्टानों के नष्ट हो जाने पर भी वह कुछ काल तक अपना अस्तित्व बनाए रखती है।

कहीं-कहीं चट्टानों पर आँधी की मार से विचित्र आकृतियाँ गढ़ जाती हैं। आँधी का सबसे अधिक प्रभाव धरती के निकट के स्थलों पर होता है। फलस्वरूप बहुत-सी चट्टानों का ऊपर का अंश आँधी की मार से बचा रहता है। परन्तु धरती के निकटवाला निचला भाग क्षीण हो जाता है। इस प्रकार के प्राकृतिक स्तम्भ बहुधा उन चट्टानों में बनते हैं, जिनका ऊपरी पर्त कड़ा और नीचे कोमल होता है। धीरे-धीरे नीचे जड़ का अंश क्षीण होकर नष्ट हो जाता है और तब सम्पूर्ण स्तम्भ लुढ़क पड़ता है। परन्तु

इस क्रिया में बहुत अधिक समय लगा करता है।

सभ्यता के आदि युग में मनुष्य पाषाण-खण्डों को घिसकर विविध प्रकार के नोकीले गोल और धारवाले शस्त्र बनाते थे। ठीक उसी प्रकार के पाषाण-खण्डों की रचना वायु के द्वारा कहीं-कहीं स्वयमेव होती रहती है। सूखे प्रदेशों में और कहीं-कहीं वर्षावाले प्रदेशों के बालुकामय समुद्रतटों पर इस प्रकार के चमकदार और निश्चित स्वरूपवाले पाषाण-खण्ड पाये जाते हैं। आँधी के वेग से उड़े हुए बालू के कण धरती पर बिखरे पाषाण-खण्डों से टकरा-टकराकर उनको क्षत-विक्षत करते रहते हैं। इसी के परिणाम से पाषाण-खण्ड ऐसे हो जाते हैं जैसे किसी ने छेनी से काँट-छाँट और घिसकर रख दिए हों। इन पाषाण-खण्डों का ऊपरी तल चिकना और कई पहलवाला हो जाता है। जहाँ दो पहल मिलते हैं वहाँ तीक्ष्ण धार बन जाती है। जिस पहल पर वायु का प्रकोप होता है उसका आकार नीचे धरती के पास चौड़ा और ऊपर की ओर पतला होता है। यदि रोड़े का रुख़ पलट गया तो दूसरा पहल भी इसी आकार का बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पाषाण-खण्ड में कई पहल और कई धारें बन जाती हैं। परन्तु अधिकतर इस प्रकार के पाषाण-खण्ड लम्बे, दोनों सिरों पर नोकीले और तीन पहलवाले होते हैं। देखने में ये खण्ड बड़े सुन्दर और ग्रहणीय लगते हैं, क्योंकि इनके पहल पर अपूर्व चमक उत्पन्न हो जाती है। इन पाषाण-खण्डों को 'वायु-विरचित पाषाण' कहते हैं।

वायु-विरचित पाषाणों का भूतत्त्विक महत्त्व उनकी आकृति या चमक नहीं है, वरन् यह है कि उनके द्वारा किसी प्रदेश की पूर्व परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। मान लीजिए, उत्तरी-पश्चिमी स्कॉटलैण्ड में जहाँ रोड़ों और शिलाखण्डों की चूर-चार की मोटी तह बिछी पाई जाती है, वायु-विरचित पाषाणों की भी तह मिलती है। उत्तरी-पश्चिमी स्कॉटलैण्ड में आजकल प्रचुर मात्रा में वर्षा होती है और वनस्पतियों का कोई अभाव नहीं है, जिससे आजकल वायु के द्वारा इन पाषाणों की रचना असम्भव होगी। परन्तु इसके पूर्व किसी समय इस प्रदेश में अवश्य ही सूखी आँधियाँ आती रही होंगी, जिनके कारण पाषाणों की ऐसी आकृति गढ़ गई है।

जल की भाँति पवन भी अपने उड़ाये हुए बोझे को अधिक वहन नहीं कर पाता और स्थान-स्थान पर पटकता जाता है। इस प्रकार से जो शिलाखण्डों की महीन चूर-चार जमा हो जाती है वह कभी अस्थायी और कभी स्थायी रहती है। अस्थायी पदार्थ को आँधी का दूसरा झोंका उड़ाकर आगे बढ़ा देता है। स्थायी पदार्थ का संचय होता जाता है और धीरे-धीरे उनके पर्त पर पर्त जमा होते जाते हैं। बालुका-कणों के ये पर्त धीरे-धीरे कड़े होकर जम जाते हैं और परतीली चट्टानों का रूप धारण कर लेते हैं। बालुका-प्रस्तर (Sandstone) नामक परतीली शिलाओं की रचना अनेकों स्थानों पर इसी प्रकार हुई है।

वायु के द्वारा उड़ाये हुए बालुकण, रोड़े और कंकड़, धूल आदि गोल अथवा अनिश्चित आकार के स्तूपों के रूप में एकत्रित हो जाते हैं, जिन्हें बालुकास्तूप (Sand-dunes) कहते हैं। बालुकास्तूपों की रचना की नींव मार्ग-अवरोध करनेवाली किसी वस्तु से पड़ती है। अवरोधक पदार्थ चाहे शिलाखण्ड हो, वृक्षादि या झाड़ हो, अथवा ऊँची-नीची भूमि, ये पदार्थ आँधी के मार्ग में खड़े होकर उसके वेग को रोक देते हैं जिससे वायु में उड़नेवाला पदार्थ गिरकर जमा हो जाता है। जब बालू का ढेर पर्याप्त रूप से उन्नत हो जाता है तब वह स्वयं मार्ग-अवरोधक बन जाता है और नित्य अधिकाधिक पदार्थ अपने ऊपर जमा करता जाता है। जिन प्रदेशों में आँधी का प्रकोप बहुत अधिक होता है और आँधी में उड़नेवाली बालू की अधिकता होती है, वहाँ पर बालुकास्तूपों की ऊँचाई साधारणतः १०० फ़ीट तक हो जाती है और कहीं-कहीं (जैसे उत्तरी अफ्रीका में) ४०० फीट ऊँचे बालुकास्तूप भी पाये जाते हैं।

यदि सागर-तट पर बहुत अधिक बालू जमा होती है और आँधी का वेग प्रचुर होता है तो इस बालुकाराशि को स्थल की ओर उड़ा ले जाकर आँधी बालुकास्तूपों की पंक्ति-की-पंक्ति जमा कर देती है। मिचिगन झील के पूर्वीय तट पर इस प्रकार के असंख्य स्तूप बने हुए हैं। मरुस्थलों में बालुकास्तूपों की रचना साधारण-सी घटना है, क्योंकि यहाँ पर बालुकणों को उड़ने से रोकने के लिए न जल ही है और न घास-पात ही। फलस्वरूप मरुस्थलों में विशाल बालुकास्तूपों की रचना होती रहती है। परन्तु यह विश्वास कर लेना कि समस्त मरुस्थल बालुकास्तूपों अथवा बालुकणों से ही ढका है, ठीक नहीं है ? बालुकास्तूपों का सबसे अधिक विस्तार अरब प्रदेश में है, तथापि यहाँ भी सम्पूर्ण क्षेत्रफल का तृतीयांश ही बालुकामण्डित है। सहारा मरुस्थल का भी नवाँ भाग ही अस्थायी बालू से ढका रहता है। मरुस्थलों के विस्तृत क्षेत्रफल या तो धराखण्डों (bed rock) से मण्डित रहते हैं अथवा पाषाण-कणों, रोड़ों और शिलाखण्डों से। इन स्थानों में जैसे

ही सूक्ष्म कणीय पदार्थ उत्पन्न होता है आँधी उसको उड़ा ले जाती है। धूल तो उड़ती हुई बहुत दूर निकल जाती है परन्तु बालू के भारी कण नीची भूमि पर एकत्रित हो जाते हैं। बालू का एकत्रीकरण उन्हीं स्थलों में होता है जो किसी बाधक की आड़ में होते हैं। या तो बालू नीचे बाधक के परे जमा होती है अथवा ऊँची बाधाओं के कारण जिस ओर से आँधी आती है उसी ओर की भूमि पर गिर पड़ती है।

अत्यन्त शुष्क प्रदेशों में भी बालुकास्तूपों की रचना के लिए जो बालूकण एकत्रित होते हैं उनकी मात्रा की प्रचुरता उन प्रदेशों के धरातल की चट्टानों पर निर्भर होती है। दक्षिणी निवेदा के मरुस्थल के धरातल की चट्टान अधिकांश चूना-पाषाण (Limestone) और शेल (Shale) मिट्टी की बनी है और यहाँ पर बालुकास्तूपों का एकदम अभाव जैसा है। जिस स्थान पर बलुआ-पाषाण की तहों का धरातल बना होता है वहाँ पर बालुकणों के विखण्डन से शीघ्र ही स्तूपों की रचना हो जाने की सम्भावना रहती है। यूटा और अरीज़ोना प्रदेशों की बलुई चट्टानें इतनी शीघ्रता से विखण्डित होती हैं कि आँधी उन बालुकाकणों को उड़ा ले जाने में असमर्थ हो जाती है। इन प्रदेशों में बालुकास्तूप असंख्य और प्रत्येक स्थान पर पाये जाते हैं, यहाँ तक कि सुरक्षित नीची भूमि भी इन स्तूपों से भर जाती है।

बालुकास्तूपों के आकार भी विचित्र और अस्थायी होते हैं। कहीं वे पूर्ण स्तूपाकार चपटे, फैले हुए, अर्द्धचन्द्राकार और कहीं सूक्ष्म पर्वत-श्रेणियों के आकार में एक दूसरे से सटे हुए रहते हैं। जिस ओर से आँधी चलती है उस ओर का ढाल लम्बा और कम उठा हुआ होता है, परन्तु इसके दूसरी ओर का ढाल छोटा और सीधा खड़ा होता है। आँधी की दिशा की ओर वाले ढाल पर बालू आकर जमा होती है और दूसरी ओर खिसक जाती है। इससे दूसरी ओर के कण 'विश्राम-कोण' (Angle of Repose) की अवस्था में रहते हैं। यदि आँधी लगातार एक ही दिशा में चलती रहती है तो स्तूपों के दोनों पार्श्वों से आँधी
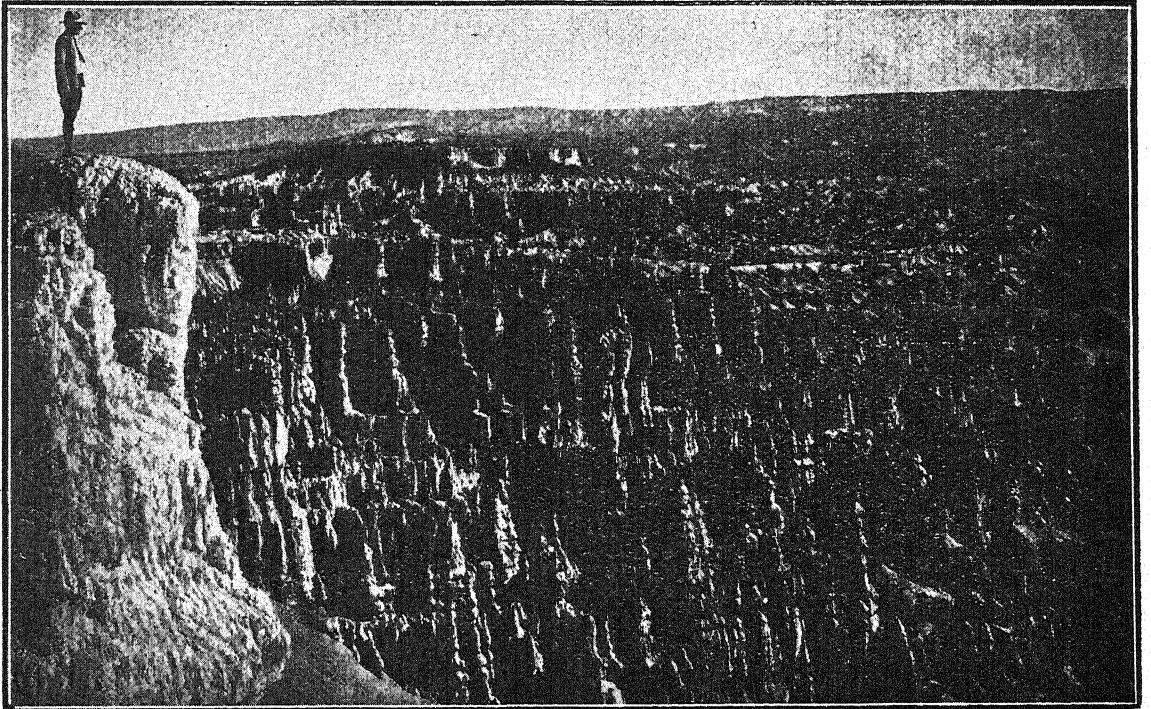
उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी सूखे प्रदेश में स्थित 'ग्रांड केनयन' नामक गहरी पहाड़ी घाटी का दृश्य

कहते हैं, इन चट्टानों का यह विचित्र रूप वायु और जल की संमिलित क्रिया से बन गया है। अब तो इस प्रदेश में जल की एक बूँद भी नहीं बरसती। वायु ने खरोंचकर चट्टानों का नरम भाग उड़ा दिया है।

की दिशा में दो बालुका-बाहु-से बढ़ जाते हैं और इससे स्तूप का आकार आँधी की विपरीत दिशा की ओर अर्द्ध-चन्द्राकार-सा प्रतीत होने लगता है। जहाँ आँधी चलने की दिशा बदलती रहती है उस प्रदेश के स्तूपों का कोई निश्चित आकार नहीं रह पाता है। बालू के टीलों या स्तूपों का धरातल जल की हिलोरों की भाँति पतली-पतली नालियों से युक्त होता है। देखने में यह बिलकुल ऐसा ही प्रतीत होता है जैसा वायु-समीरण-काल में किसी सरोवर का जल। बालुकास्तूपों के धरातल की यह विशेषता सब जगह पाई जाती है। ऐसे ही चिह्न उन जल-मग्न स्थलों में बन जाते हैं जहाँ पानी छिछला होता है और जल में निरन्तर हिलोरें आती रहती हैं। हिलोर-चिह्नयुक्त बालुका-स्तूपों का धरातल देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है मानों थोड़े ही समय पूर्व यह जलमग्न रहा होगा। गंगा आदि नदियों के बालुकामय तट पर ऐसे चिह्न ग्रीष्म ऋतु में (जब जल कम हो जाता है) कहीं भी देखे जा सकते हैं। जिन स्थानों पर आँधी की दिशा बदलती रहती है वहाँ बालुकास्तूपों के धरातल के हिलोरचिह्न भी निश्चित नहीं रहते और आड़े-तिरछे एक दूसरे को काटते रहते हैं।

बालुकास्तूपों की बालू जब तक स्वतंत्रतापूर्वक उड़ सकती है तब तक स्तूप कभी भी स्थिर नहीं रह पाते। आँधी के वेग से न केवल नये धूलिकण ही उड़ते हैं वरन् स्तूपों के ढाल की बालू भी सरक-सरककर आगे बढ़ती जाती है और शिखर पर पहुँचकर दूसरी ओर के ढाल पर गिर जाती है। इस प्रकार स्तूप के एक ओर का पदार्थ शनैः-शनैः दूसरी ओर पहुँचकर जमा हो जाता है। साथ ही-साथ आँधी के वेग के साथ शिखर भी आँधी चलने की दिशा में थोड़ा आगे बढ़ जाता है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण स्तूप ही अपने स्थान से आगे बढ़ जाता है। सारी क्रिया इतनी धीरे-धीरे और क्रमानुसार होती है कि यदि आँधी का वेग और मार्ग निश्चित रहा तो स्तूप का आगे बढ़ना मालूम भी नहीं पड़ता। परन्तु किसी प्रदेश का निरन्तर निरीक्षण करने से तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि बालुकास्तूप कितनी शीघ्रता से कितने आगे बढ़ गए हैं।

स्तूपों की यात्रा तभी समाप्त होती है जब उनके पथ में कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जो आँधी के वेग को रोक सके और इस प्रकार बालू को गतिविहीन करके आगे बढ़ने से रोके। ऐसी बाधाएँ अधिकतर वृक्षादि की पंक्तियाँ तथा वनस्पतियों से ढकी भूमि होती हैं। समुद्र-तट से बालुकास्तूपों की पंक्तियाँ स्थल की ओर बढ़ते-बढ़ते नीची भूमि को पाटते चली जाती हैं। जब इन टीलों की बालू में घास आदि उगकर बालू को स्थिर कर देती है तभी उनकी यात्रा समाप्त होती है। अन्यथा बालू के ये टीले खेत, मैदान, जंगल और गाँव तक को ढाँपते आगे बढ़ते चले जाते हैं। इनका प्रकोप जलधाराओं की बाढ़ से किसी प्रकार भी कम नहीं होता। केवल इतना अन्तर होता है कि इनकी यात्रा की गति मन्द होती है। फ्रान्स तथा अन्य योरपीय प्रदेशों में समुद्र-तट की ओर से बढ़नेवाले बालुकास्तूपों की पंक्तियों से अनेकों बार खेती-बारी तो नष्ट हो ही चुकी है, साथ-ही-साथ सहस्रों गाँव और घने बन भी बालूमग्न हो गए हैं। बिस्के की खाड़ी के तट तथा बाल्टिक सागर के तटवर्तीय प्रदेशों में इस प्रकोप से रक्षा करने के लिए घने और ऊँचे वृक्षों की पंक्तियाँ लगाई गई हैं। भारतवर्ष में भी इस प्रकार की बालू की बाढ़ से सिन्ध और राजपूताने के लोग भली भाँति परिचित हैं। मोहेनजो-दड़ो की सभ्यता के नष्ट हो जाने का कारण बालू की बाढ़ भी हो सकती है। कहना न होगा कि बालू की बाढ़ जल से भी अधिक भयानक होती है। जो प्रदेश जलधाराओं की बाढ़ से मग्न हो जाते हैं, थोड़े समय पश्चात् वे फिर स्वतंत्र हो जाते हैं और बाढ़ की मिट्टी से अधिक उपजाऊ बन जाते हैं। परन्तु बालू के प्रकोप से नष्ट होनेवाले प्रदेश की भूमि सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। बालुका-स्तूपों की बाढ़ बहुत ही धीमी होती है। बिस्के की खाड़ी इस प्रकार की बाढ़ के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर लगभग १५० मील लम्बी और ६ मील चौड़ी भूमि की पट्टी बालुका-मय है। इस प्रदेश से टीलों की यात्रा आरम्भ होती है और स्थल की ओर चलती है। इसकी गति अधिक-से-अधिक १०० फ़ीट प्रतिवर्ष तक होती है। टीलों के आने के पूर्व ही बालू के कण आकर भूमि को ढकना आरम्भ कर देते हैं जिससे खेती-बारी नष्ट होना आरम्भ हो जाती है। टीलों के आने के पूर्व ही भूमि पर बालू की मोटी तह जम जाती है। युक्तप्रान्त के पश्चिमी प्रदेश में आजकल प्रति-वर्ष आँधियाँ राजपूताने के मरुस्थलों से बालू ला-लाकर जमा कर रही हैं। यह अँदेशा है कि कालान्तर में पश्चिमी युक्तप्रान्त की भूमि पर बालू की इतनी मोटी तह जमा हो जायगी कि धीरे-धीरे यह भूमि भी मरुस्थलीय हो जायगी।

फ्रांस के लांडीस (Landes) प्रदेश में बालूकास्तूपों की बाढ़ से अनेकों गाँव नष्ट हो चुके हैं। यहाँ के लेज (Lege) नामक स्थान पर बालू का प्रकोप होने से लोगों

ने एक गिरजाघर को नष्ट होने से बचाने के लिए सत्रहवीं शताब्दी में उसे पुराने स्थान से हटाकर ढ़ाई मील स्थल की ओर बनाया। सौ वर्ष उपरान्त उनको उसे यहाँ से भी हटाना पड़ा, क्योंकि बालू यहाँ पर अपने टीले बनाने लगी थी। इस प्रकार प्रत्येक सौ वर्ष में उनका चर्च ढाई-तीन मील आगे बढ़ता है!

बालुकास्तूप यद्यपि अधिकांश क्षयात्मक कार्य करनेवाले ही हैं और उजाड़ होते हैं तथापि उनसे भी मनुष्य को कुछ-न कुछ लाभ होता ही है। मरुस्थलों में कहीं-कहीं बालुका-स्तूपों ही के कारण लोगों को जल नसीब होता है। बालू में वर्षा का जल (जो भी थोड़ा-बहुत गिरता है) समा जाता है। बालू में सोखे हुए जल के कारण 'जलरेखा' स्तूपों के नीचे ऊपर उठ जाती है और स्तूपों के आकार की रेखा के समानान्तर नीची-ऊँची रहती है। फलस्वरूप कहीं-कहीं थोड़ी-सी भूमि खोदने पर जल प्रचुर मात्रा में निकलने लगता है। इन स्थानों पर नख़लिस्तान बन जाते हैं और खजूर आदि वृक्षों के झुण्ड उग आते हैं। मिस्र के मरुस्थलों में ऐसे नख़लिस्तान अधिक पाये जाते हैं।

धरातल से उड़ी हुई महीन धूल भी स्थान-स्थान पर एकत्रित होती रहती है। एशिया, योरप तथा उत्तरीय और दक्षिणीय अमेरिका में एक प्रकार की पीली, महीन कण-वाली मिट्टी की सैकड़ों फ़ीट गहरी तह जमी हुई पाई जाती है। इस मिट्टी को लोयस (Loess) कहते हैं। इसकी तहें पथरीली चट्टानों के समान पतली एक के ऊपर एक बिछी हुई-सी नहीं होती, वरन् २०—४० या इससे भी मोटी लग-भग १०० फ़ीट की तहें ढेर के रूप में जमा होती हैं। इसमें लम्बी खड़ी नलिकायें-सी बनी होती हैं, जिससे इसके ऊँचे-ऊँचे कगार घाटियों के पार्श्व में बन जाते हैं। यद्यपि इस मिट्टी के कण अत्यन्त ही महीन होते हैं तथापि इन कणों की रचना में कोई विश्लेषण नहीं होता। जिन खनिजों के कण इसमें मिले होते हैं वे सब सुरक्षित रहते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि चट्टानों के विखण्डन से उत्पन्न यह धूल रासायनिक विश्लेषण होने के पूर्व ही उड़कर जमा हो गई है।

इस मिट्टी की तहों में असंख्य स्थलचर जीवों के अवशेष पाये जाते हैं। इसके ढेर ऊँची-नीची सभी जगहों में बने हैं और आँधी को छोड़कर अन्य किसी उपाय या क्रिया के फलस्वरूप जमा नहीं हो सकते। खड़ी पतली नलिकाएँ इस मिट्टी के ढेर में समय-समय पर दब जानेवाले वृक्षादि के तनों और जड़ों में चिह्न-सी लगती हैं।
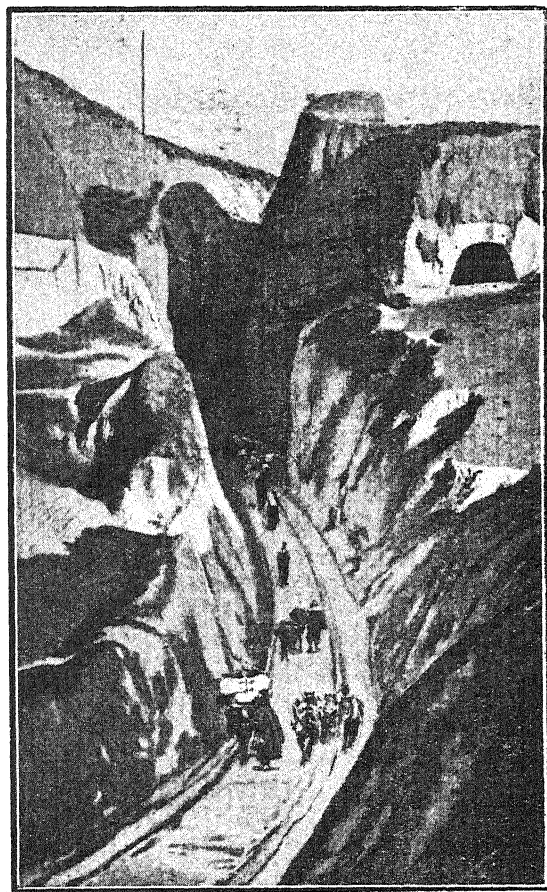
चीन में पवन द्वारा उड़ाकर लाई गई 'लोयस' मिट्टी का एक दृश्य। इसकी पर्त्त कितनी मोटी है, यह इसके बीच काट कर बनाए गए दर्रे की दीवारों से अनुमान किया जा सकता है।

मध्य योरप और मिसीसिपी नदी की उपत्यका में जमी हुई लोयस मिट्टी सम्भवतः अस्थायी सरोवरों और झीलों के सूखे धरातलों से उड़कर आई होगी।

उत्तरीय चीन में फ्रांस से भी अधिक विस्तार का प्रदेश लोयस से ढका हुआ है। इसकी तहें सैकड़ों फ़ीट गहरी हैं। जलधाराओं द्वारा इसमें सैकड़ों गहरे दर्रों की रचना हो गई है। इसी मिट्टी को बहाने के कारण चीन की एक नदी का नाम पीली नदी पड़ा है और जिस सागर में यह पीली नदी अपना पीला बोझा जमा करती है, उसका नाम पीला सागर है।

मध्य एशिया के मरुस्थलों से चलनेवाली आँधियाँ शताब्दियों से इस धूल को अपने साथ उड़ा-उड़ाकर लाती

रही हैं और इस प्रदेश को पाटती रही हैं। चीन की लोयस मिट्टी और योरप तथा अमेरिका की लोयस मिट्टी के मूल स्थानों में भिन्नता होते हुए भी रचना-विधि की अपूर्व समानता ध्यान देने योग्य है। चीन की बहुत-सी उपजाऊ धरती इसी लोयस मिट्टी के द्वारा बनी है। इस मिट्टी में कगारों के कटान में नैसर्गिक कन्दराओं की अपूर्व रचना हो गई है। चीन के सहस्रों निर्धन कृषक इन्हीं कन्दराओं में अपना घर बनाकर रहते हैं।

पवन की प्रतिक्रिया से चट्टानों का विखण्डन होकर क्षय होता है। विखण्डन की क्रिया से जो नन्हें कण बनते हैं, वे भी उस समय तक सक्रिय रहते हैं, जब तक वनस्पति और जल के प्रभाव से वे दबकर भूमि के अंग नहीं हो जाते। आँधी के प्रकोप के साथ उड़नेवाले बालू के कण चट्टानों पर बड़ी तीक्ष्णता से प्रहार करते हैं, जिससे चट्टानों के अंश नुचकर तथा खुरचकर गिर जाते हैं और चट्टान भुरभुराकर गिरती जाती है। बालू की मार बड़ी तीक्ष्ण होती है। उसके वेग से धरातल की मिट्टी आदि भी खुरचती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे दैवी झाड़ू से धरती साफ़ की जा रही है। यह बालू और धूल अन्त में न केवल बालुकास्तूपों और लोयस के टीलों के रूप में जमा होती है, वरन् सारे भूमण्डल पर हलकी तह के रूप में जमा हो जाती है। त्रसरेणु भी इसी के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं और उनके द्वारा वायुमण्डल में कैसे-कैसे परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं, इसका हाल आप पढ़ ही चुके हैं।

भारत के ऊँचे पर्वत-शिखरों, पर जहाँ आँधी प्रचण्डता से चलती है और शीत के कारण पेड़-पौधों का जीवित रहना असम्भव है, विखण्डित चट्टानों की चूर-चार को उड़ाकर ले जाने का कार्य आँधी के द्वारा अधिक होता है।

भारत के सुप्रसिद्ध थार मरुस्थल के ४०००० वर्ग-मील के विस्तार में जाने से हमको प्रतीत होता है कि धरातल के रूप को आँधी किस प्रकार बदल देती है। इस भू-भाग पर असंख्य दिनों से वर्षा की एक-आध बूँद भी नहीं पहुँच पाई, फलस्वरूप आँधी को मनमानी करने का सुअवसर मिला। आज हमको इस प्रान्त में चारों ओर बालू के प्रचुर ढेर और उनमें से झाँकती कहीं-कहीं सूखी चट्टानें ही दिखाई पड़ती हैं। समुद्री लहरों के समान बालू का धरातल भी ऊँचा-नीचा लहरदार है। बालुकासागर की ये लहरें नित्य-प्रति हरी-भरी भूमि की ओर आती जा रही हैं। रेगिस्तानों में पड़नेवाली दिन की कड़ी धूप और रात्रि की शीतलता ने चट्टानों को विखण्डित कर दिया है। ऋतु-क्रिया के फलस्वरूप चट्टानें भुरभुरी हो गई हैं और आँधी के वेग की तनिक-सी भी ठेस लगते ही ढेर की ढेर बालू इन भुरभुरी चट्टानों से गिर जाती है और धूल के बादल बनाती हुई उड़ने लगती है।
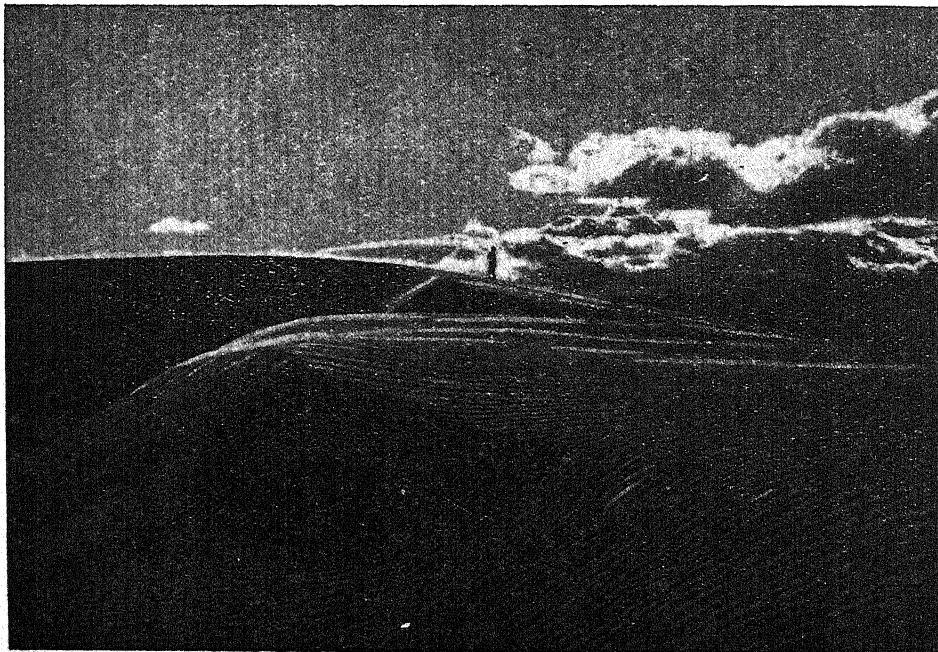
मरुभूमि का एक और दृश्य

समुद्र की सतह के समान बालू का धरातल भी कैसा लहरदार हो जाता है! इस बालुका-सागर की ये लहरें नित्य-प्रति अपना रूप बदलती रहती हैं।

स्थलमण्डल—पुरानी और नई दुनिया

३—मैदान और उनमें बहनेवाली नदियाँ

हम बता चुके हैं कि समस्त स्थलमण्डल समधरातलीय नहीं हैं। पिछले प्रकरण में हमने स्थल के उन भागों का सिंहावलोकन किया था जो साधारणतः समुद्र-तल से बहुत ऊँचे और असमतल हैं और जिनको पर्वत और पठार-प्रदेशों के नाम से पुकारा जाता है। इन प्रदेशों की भूमि अधिकांश ढालू होती है और कहीं-कहीं इनकी चोटियाँ बहुत ही ऊँची हो गई हैं। इन प्रदेशों की भूमि पथरीली और ढालू होने के कारण जितनी वर्षा यहाँ होती है उसका अधिकांश भाग नीची भूमि की ओर बह आता है। इस जल के बह आने के मार्ग जलधारा, सरिता या नदियाँ कहलाते हैं। ये जलधाराएँ और सरितायें जब ऊँचे प्रदेशों पर होनेवाली वर्षा के जल को नीचे भूभाग की ओर लेकर दौड़ती हैं तब इनमें बड़ा वेग होता है और इसके बल से ये अपने मार्ग को अधिक सरल और सीधा बनाती हुई आगे बढ़ती हैं। इसी के कारण इनके मार्ग का स्थल चौरस भूमि में परिणत होता जाता है। प्रत्येक नदी अपनी 'उपत्यका' को, अर्थात् उस भूमि को जिसका जल बह-कर नदी में आता है, चौरस भूमि अर्थात् मैदान में परिणत करने के प्रयत्न में रहती है। 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ में 'नदियों की कहानी' (अंक ८ पृष्ठ ६४३) के प्रकरण में बताया जा चुका है कि नदियाँ किस प्रकार भूतल पर मैदानों की रचना करती रहती हैं।

धरातल के स्थल-भाग की वह भूमि जो पर्वत और पठारों से नहीं ढकी है नीची है, और मैदान कहलाती है। आइए देखें, स्थलमण्डल के मैदानों का कहाँ कितना विस्तार है और उनमें कौन-सी नदियाँ अपना आधिपत्य बनाए हुए हैं।

स्थल के विशाल खण्ड यूरेशिया के उच्चस्थलीय प्रदेश के विषय में हम जान चुके हैं कि इसका विस्तार इस भूखण्ड के दक्षिणीय भाग में है। अतः यूरेशिया का उत्तरीय भाग अवश्य ही निचला मैदान होना चाहिए। वास्तव में स्कैन्डिनेविया और कमचटका के प्रायद्वीपों को छोड़कर योरप का तथा एशिया का उत्तरी भाग एक विस्तृत ढालू मैदान है। इस मैदान का ढाल समुद्र की ओर पश्चिम या उत्तर की ओर है। पश्चिमी योरप की पिरेनीज़ पर्वत-श्रेणियों के पास से यह मैदान आरम्भ होकर पूर्व की ओर फैलता चला गया है। 'नार्थ सी' या उत्तरी सागर की ओर इस मैदान का ढाल कम चौड़ा है, परन्तु पूर्व में अधिक चौड़ा हो गया है और उत्तर में बाल्टिक और श्वेत सागर से लेकर दक्षिण में काले और कैस्पियन सागर तक फैला है। योरप का पूर्वीय अर्ध भाग इसी विस्तृत मैदान का अंग है। यही मैदान यूराल पर्वत की नीची श्रेणियों को पार करता हुआ एशिया के उत्तरी भाग तक फैला है। पूर्व की ओर यह फिर संकीर्ण हो गया है। इस मैदान के पश्चिमी भाग का ढाल अटलांटिक महा-सागर की ओर है और इस भाग की नदियाँ अपना जल अटलांटिक महासागर में बहाती हैं। कुछ उत्तरी सागर में मिलती हैं और कुछ बाल्टिक में। पूर्व में चलने पर इस मैदान का ढाल आर्कटिक महासागर की ओर हो जाता है और कुछ भाग का काले और कैस्पियन सागर की ओर।

इस मैदान की प्रमुख नदियाँ गारोन, ल्वायर, सीन, राइन, एल्बा, विस्चुला और वोल्गा योरप के खण्ड में बहती हैं और ओबी, येनिसी, तथा लीना नदियाँ एशिया महा-द्वीप में। योरप में बहनेवाली पहली तीन नदियाँ फ्रांस, दूसरी दो जर्मनी, विस्चुला पोलैण्ड और वोल्गा रूस में होकर बहती हैं। ये नदियाँ इन प्रदेशों के लिए व्यापार-मार्ग का काम देती हैं और बहुत ही उपयोगी हैं। इनमें बड़ी-बड़ी नौकायें और छोटे-छोटे स्टीमर चलते रहते हैं। इन नदियों की उपत्यकाएँ बहुत उपजाऊ हैं। राइन योरप की सबसे बड़ी

नदी न होते हुए भी सबसे अधिक महत्त्व की है। आल्प्स पर्वत-श्रेणियों से निकलकर यह उत्तरी सागर की ओर बहती है। इसकी आधी दूरी तक सागर से छोटे-छोटे स्टीमर इसमें चले आते हैं।

रूस के मैदान में बहनेवाली अनेकों नदियाँ ध्रुव और श्वेत सागरों में गिरती हैं। इनमें से अधिकांश बर्फ़ से ढकी रहती हैं। इन नदियों का अधिक महत्त्व नहीं है। वोल्गा नदी अपनी अनेकों शाखाओं और उपनदियों से जल ग्रहण करती हुई, लम्बी दौड़ के बाद, कैस्पियन सागर में मिलती है। यह नदी व्यापारिक मार्ग की दृष्टि से बहुत उपयोग की है। काले सागर में तीन महत्वपूर्ण नदियाँ आकर अपना जल गिराती हैं। इनमें से डैन्यूब नदी सबसे अधिक लम्बी और उपयोगी है। दूसरी नदियाँ नाईपर और नाईस्टर भी बड़े काम की हैं। ये नदियाँ अधिकांश में चौरस मैदान में बहती हैं और इनमें स्टीमर चलने का सुभीता है। शीत ऋतु में इनमें बर्फ़ जम जाती है और तब इनके द्वारा आवागमन बन्द हो जाता है। डैन्यूब नदी काले सागर के पश्चिमी तट पर गिरती है। इसके द्वारा आल्प्स पर्वत से आनेवाली जलधाराओं का जल समुद्र में पहुँचता है। हंगेरी के चौरस और उपजाऊ मैदान में यह इठलाती हुई बहती है। मध्य योरप का बहुत-कुछ आर्थिक जीवन डैन्यूब नदी के किनारे ही पर पाया जाता है। परन्तु इस नदी पर व्यापार अधिक नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस नदी में कई स्थानों पर पानी का बहाव इसके पहाड़ी भागों से निकलने के कारण बहुत ही तेज़ है। इसके अतिरिक्त शीत काल में यह नदी भी अधिकतर जम जाती है, जिससे उन दिनों इसमें नावें नहीं चल सकतीं।

पूर्वीय योरप एक बहुत ही बड़ा स्थल-भाग है और प्रायः एक बड़ा मैदान है, जिसकी ऊँचाई समुद्र-तट से लगभग ६०० फ़ीट के ऊपर है, अर्थात् हमारे देश के सिंधु-गंगा के मध्य भाग की-सी ऊँचाई यहाँ मिलती है। इसकी बनावट बहुत सादी और लगभग एक ही सी है। इस मैदान के भीतर केवल वाल्डाई (Valdai) की पहाड़ी ही एक ऊँची भूमि है। काकेशश और यूराल पर्वत इस मैदान की सीमा बनाते हैं। इसका दक्षिणी भाग यूक्रेन प्रान्त अपनी काली मिट्टी के लिए प्रसिद्ध है, जिसका काला रंग उसमें मिली हुई बहुत-सी सड़ी हुई वनस्पतियों के मिल जाने के कारण हो गया है। पूर्वीय योरप के उत्तर-पश्चिमीय भाग में झीलों की संख्या अधिक है जो प्राचीन समय के हिमावरण के द्वारा बन गई हैं।

एशिया खण्ड के उत्तरीय भाग में साईबेरिया का मैदान है। इस मैदान में ओबी, येनिसी और लीना नदियाँ एशिया के ऊँचे प्रदेश से निकलकर ध्रुव महासागर (Arctic Ocean) में मिलती हैं। साईबेरिया का मैदान येनिसी नदी तक तो समतल है परन्तु उसके आगे ऐसी समतल भूमि केवल समुद्र के किनारे ही मिलती है। समुद्र से हटकर स्थल की ओर ये मैदान ऊँचे-नीचे हैं और इनमें पहाड़ियाँ अधिक हैं। पश्चिमी साईबेरिया का मुख्य जलमार्ग ओबी नदी है। येनिसी का मार्ग लगभग सीधा है। इसकी एक मुख्य सहायक नदी एशिया की सबसे बड़ी मीठे पानी की झील बैकाल से निकलकर इसमें मिलती है। ये तीनों नदियाँ बहुत लम्बी हैं और समतल मैदान में धीमे वेग से बहती हैं। इनकी सहायक नदियाँ एक दूसरे से दूर हटी हुई बहती हैं। इन नदियों और इनकी सहायक धाराओं के द्वारा नावें उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सभी दिशाओं में चलाई जा सकती हैं। ग्रीष्म ऋतु में इनका उपयोग बहुत अधिक होता है। नावें और स्टीमर दोनों ही इनमें चलते हैं। परन्तु शीत ऋतु में इनमें बर्फ़ जम जाती है। दक्षिण में इनका उद्गम होने के कारण, ग्रीष्म ऋतु आते ही वहाँ का बर्फ़ गल जाता है, परन्तु उत्तरी भाग में कड़ा बर्फ़ जमा रहता है। गले हुए बर्फ़ का पानी जब समुद्र की ओर बहता है तो कड़ा बर्फ़ उसे रोक देता है और किनारों की भूमि पर बाढ़ आ जाती है। यह भूमि कई सप्ताह तक जलमग्न रहने के कारण दलदल सरीखी हो जाती है। इस कारण इन नदियों का उतना महत्त्व नहीं है और न उतना उपयोग ही हो पाता है, जितना नक़शे में इनकी स्थिति देखने से प्रतीत होता है।

साईबेरिया के मैदान के दक्षिण-पश्चिम की ओर अरल सागर के चारों ओर एक और मैदान है, जिसे तूरान (Turan) का मैदान कहते हैं। यह मैदान अधिकतर सूखा है और स्टेप (Steppe) कहलाता है। यह मैदान कास्पियन सागर की ओर बढ़कर योरप के मैदान में मिल जाता है। साईबेरिया और तूरान के मैदानों के मध्य में किरग़ीज़ नामक एक छोटा-सा पठार है।

यूरेशिया का दक्षिणी भाग अधिकांश ऊँचा और पहाड़ी होने के कारण यहाँ पर मैदान अधिक नहीं हैं। दक्षिणी खण्ड अधिकांश प्रायद्वीपों से बना है, जिसमें आइबेरिया, बालकन, अरब और दक्खिन के पठार हैं, या इटली और मलाया सरीखे पहाड़ी भाग हैं। पठारों और पहाड़ों के बीच-बीच में कहीं-कहीं मैदान हैं या सँकरे समुद्रतटीय मैदान दिखाई देते हैं।
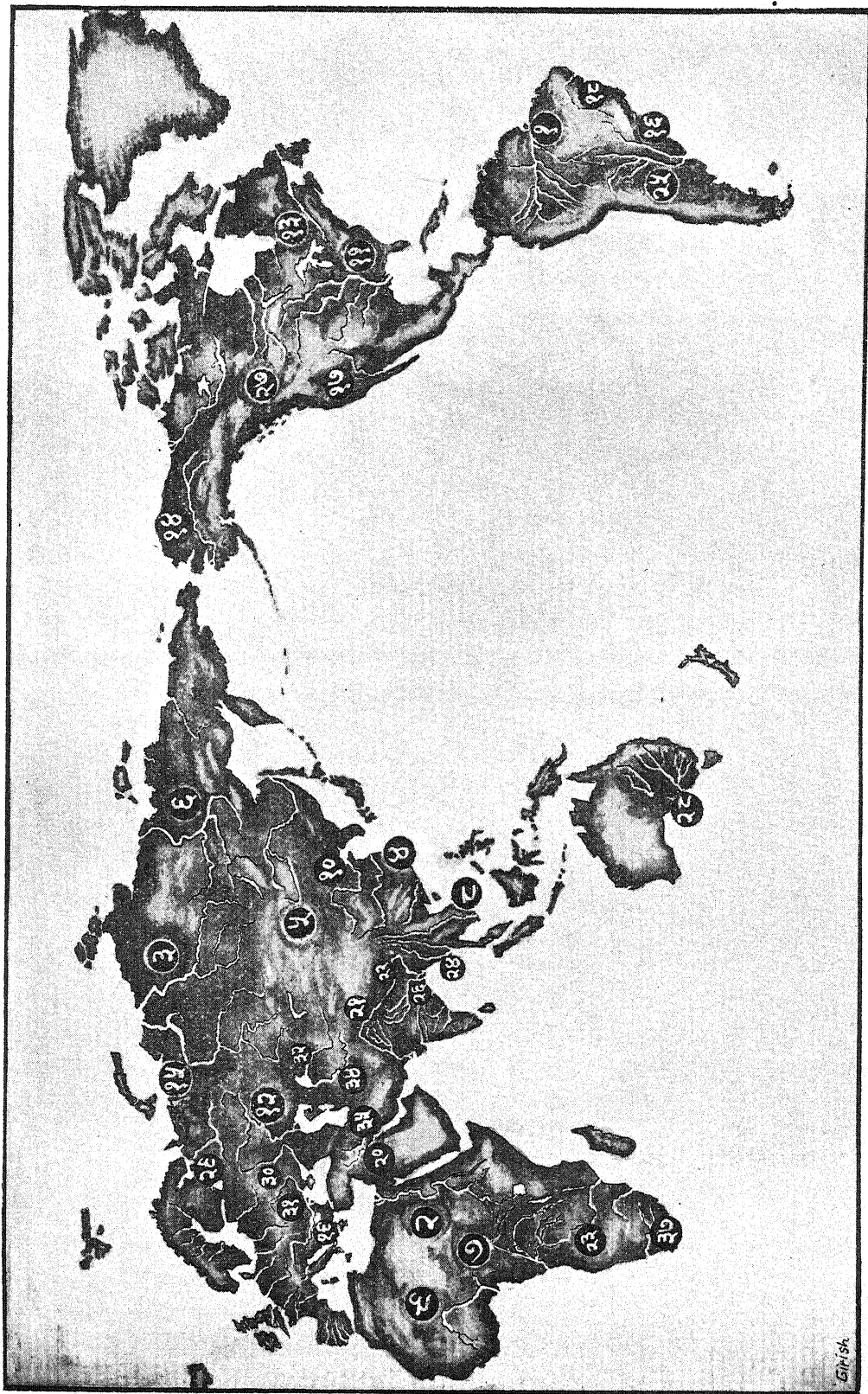
१. अमेज़न, २. नील, ३. येनिसी, ४. यांगसीक्याङ्ग, ५. आमूर, ६. लीना, ७. कांगो, ८. मेकाङ्ग, ९. नाइजर, १०. ह्वांगहो, ११. मिसिसिपी, १२. वोल्गा, १३. सेंट लारेन्स, १४. यूकॉन, १५. ओबी, १६. पराना, १७. कोलोरेडो, १८. सेंट फ्रांसिस्को, १९. डेन्यूब, २०. फ़रात, २१. सिंधु, २२. ब्रह्मपुत्र, २३. ज़ंबेसी, २४. इरावदी, २५. पेरेग्वे, २६. गंगा, २७. सास्केचवान, २८. मरे, २९. ड्वीना, ३०. नाइपर, ३१. एल्ब, ३२. सर दरिया, ३४. आमू दरिया, ३५. दज़ला, ३७. आरेंज ।

दक्षिणी योरप में रोन और पो नदी की घाटियाँ नीची भूमि हैं। रोन नदी आल्प्स पर्वत के पश्चिमी भाग से निकलकर संकीर्ण घाटी में बहती हुई दक्षिण की ओर जाकर भूमध्य-सागर में मिल जाती है। जलयात्रा के मार्ग की दृष्टि से इस नदी का उपयोग तनिक भी नहीं होता, परन्तु इसकी घाटी की नीची भूमि रेल और सड़कों के लिए अत्यन्त ही महत्त्व की है। भूमध्य-सागर से फ्रांस की सीमा के भीतर के स्थानों में पहुँचने के लिए इस घाटी से होकर ही प्रधान मार्ग बना है। पो नदी आल्प्स पर्वत के दक्षिण के उपजाऊ मैदानों के बीच से होकर पूर्व की ओर चली जाती है और भूमध्य-सागर में मिल जाती है।

एशिया में मैसोपटामिया या इराक़ की घाटी फ़ारस की खाड़ी तक चली गई है। इस घाटी में दजला (Tigris) और फ़रात (Euphrates) नदियाँ बहती हैं। जहाँ ये नदियाँ एक दूसरे के अति निकट आ जाती हैं, वह भाग अति उपजाऊ है। भारत में सिन्धु-गंगा का प्रसिद्ध मैदान है। मैसोपटामिया और सिन्धु-गंगा के मैदान पहले कभी तो ज़मीन के बहुत नीचे भाग थे, किन्तु अब नदियों के द्वारा लाई गई पहाड़ों की मिट्टी से भर गए हैं। मैसोपटामिया में इस भराव की प्रगति अभी तक जारी है और शातुल-अरब नदी के द्वारा लाई हुई मिट्टी ईरान की खाड़ी को प्रति दिन भरती जा रही है। इन्हीं मैदानों से लगे हुए दो बहुत ही प्राचीन पहाड़ी भाग अरब और दक्षिणी भारत के पठार हैं, जो किसी समय अफ्रीका के पठार से अवश्य जुड़े रहे होंगे।

यूरेशिया के पूर्वीय भाग अर्थात् पैसिफ़िक महासागर के तटवर्तीय भाग में भी यूरेशिया के दक्षिणी भाग की भाँति प्रायद्वीप अधिक हैं। इस तट की ओर बहकर आनेवाली नदियों का उद्गम ऊँची पहाड़ी भूमि में होता है। पैसिफ़िक महासागर में गिरनेवाली प्रमुख नदियाँ आमूर, ह्वांगहो, यांगसीक्यांग, सीक्यांग, मेकांग और मिनाम हैं। आमूर नदी यबलोन्वाय पहाड़ों से निकलकर उजाड़ पहाड़ी प्रान्त में बहती है। इसके मुहाने के पास की भूमि उपजाऊ मैदान है। आमूर नदी गंगा से लम्बाई में दुगुनी है, और जलमार्ग के लिए बहुत उपयोगी है। परन्तु उत्तरी अक्षांशों में बहने के कारण वर्ष के आधे दिनों में इसमें बर्फ़ जमी रहती है, इसलिए इसका महत्त्व घट जाता है। इसके अतिरिक्त यह बहुत ही शीतल जलवाले बन्दरगाहरहित सागर में गिरती है।

ह्वांगहो या पीली नदी (Yellow River) और यांगटिसीक्यांग चीन की प्रसिद्ध नदियाँ हैं और एशिया के पूर्वी तट में गिरनेवाली नदियों में सबसे अधिक महत्त्व और उपयोग की हैं। उत्तरी चीन का मैदान ह्वांगहो नदी की घाटी में फैला है और 'ह्वांगहो बेसिन' कहलाता है। मध्य चीन में यांगसीक्यांग का प्रभुत्व है और यह भाग 'यांगसीक्यांग बेसिन' के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिणीय चीन सीक्यांग नदी की उपत्यका का मैदान है।

उत्तरीय चीन और मध्य चीन के बीच की सीमा तसिंगलिंग पहाड़ हैं। पूर्व की ओर ये पहाड़ बहुत नीचे होकर चीन के उत्तरीय मैदान में मिल गए हैं। यह उत्तरीय मैदान मध्य चीन तक बराबर चला गया है। उत्तरीय चीन का पश्चिमीय भाग पहाड़ी है, परन्तु इसका अधिकांश मार्ग प्रायः लोयस मिट्टी से ढका है और ढालू भूमि पर खेती प्रचुर मात्रा में होती है। पूर्व की ओर मैदान हैं, जो समुद्र तक चले गए हैं। इन मैदानों का सिलसिला समुद्र के निकट शान्टुंग प्रायद्वीप में टूट जाता है। यह प्रायद्वीप पहाड़ी है, जिसे पिचली की खाड़ी इसके उत्तर में स्थित लाउटुंग प्रायद्वीप से अलग करती है।

उत्तरीय चीन की मुख्य भूमि विशेषतया लोयस मिट्टी की ही है। जहाँ यह मिट्टी गहरी है और इसे पानी काफ़ी मिल जाता है वहाँ इसके समान उपजाऊ मिट्टी दूसरी है ही नहीं। पश्चिम में इस मिट्टी की गहरी तह से छोटे-छोटे पहाड़ तक ढक गए हैं। पूर्व में ह्वांगहो नदी के कारण मैदान का अधिक भाग इस मिट्टी से ढक गया है और बहुत उपजाऊ बन गया है। यह मिट्टी बहुत ही महीन और हल्की होती है, इस कारण से यह पश्चिमी भाग में चलनेवाली हवा तथा ह्वांगहो नदी के जल में हमेशा भरी रहती है। पश्चिमीय भाग में शांसी आदि प्रान्तों में यह मिट्टी हवा के साथ इतनी अधिक मिली रहती है कि इसके कारण अधिक दूर तक दिखलाई ही नहीं पड़ता। ह्वांगहो नदी में इसी मिट्टी के कारण बहुधा बाढ़ आ जाती है। यह नदी की तह में धीरे-धीरे जमती जाती है और थोड़े ही दिनों में नदी की तह को ऊँचा उठाकर उसके जल को किनारे तोड़कर दोनों ओर फैला देने का कारण होती है। इस बाढ़ को रोकने के लिए चीनी लोगों ने इस नदी के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे बाँध बनवा दिए हैं, जिसका फल यह हुआ है कि ह्वांगहो नदी की धारा अपनी घाटी से कई फ़ीट की ऊँचाई पर बहने लगी है। लोयस मिट्टी समुद्र में पहुँचकर जल को पीला कर देती है। यही कारण है कि वहाँ का समुद्र पीला सागर कहलाता है।

मध्य चीन का मुख्य अंग यहाँ की यांगसीक्यांग नदी

की घाटी है। चीन के इस भाग में जीवन का साधन यही नदी है और इसलिए यह भाग एक कोने से दूसरे कोने तक बहुत ही घना बसा हुआ है। यह नदी तिब्बत के पठार से अज्ञात स्थल से निकलकर पूर्व की ओर बहती है और चीन को लगभग दो सम भागों में विभाजित करती है। इस नदी का मध्य भाग एक चौड़ा मैदान है। इस भाग से समुद्र के तट तक नावों के द्वारा अच्छा मार्ग है। हांकाऊ से नीचे नदी चौड़ी हो जाती है और उसके डेल्टे का आरम्भ हो जाता है। यह डेल्टा संसार के बहुत उपजाऊ और उन्नत डेल्टों में से है।

दक्षिणी चीन में सीक्यांग नदी की घाटी महत्त्व की है। यह नदी पूर्व दिशा की ओर बहती है। इस नदी की लम्बाई यांगसीक्यांग और ह्वांगहो नदियों के समान नहीं है और न यह उन नदियों के समान उपजाऊ भूमि में ही बहती है।

मेकांग नदी तिब्बत के पठार के पूर्वीय भाग से निकलकर एशिया महाद्वीप के दक्षिणी-पूर्वीय कोने की ओर बहकर समुद्र में मिल जाती है। बर्मा की सालवीन नदी की भाँति इसमें नाव चलाना असम्भव-सा है। इसका कारण यह है कि इसकी धारा मार्ग में भँवर से पूर्ण रहती है। मिनाम नदी छोटी है। यह स्याम की खाड़ी में मिलती है। इसके डेल्टे की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है।

चीन की यह विशेषता है कि यहाँ पर नदियों और नहरों से संसार भर में सबसे अधिक मार्ग का काम लिया जाता है।

जापान एक छोटा-सा सँकरा देश है। इसी के कारण न तो यहाँ नदियाँ अपने मैदान ही बना सकती हैं और न समुद्र के तट पर ही चौड़े मैदान बन सके हैं। यहाँ पर समतल भूमि का बहुत

संसार की कुछ बड़ी नदियाँ

अभाव है। दक्षिण-पूर्वीय भाग में बहुत-सी छोटी-छोटी नदियाँ हैं, जो अपने साथ बहुत-सी मिट्टी लाकर समुद्र-तट पर डेल्टे बनाती हैं।

इण्डोचीन प्रदेश में बहनेवाली इरावदी और सालवीन नदियाँ मुख्य हैं। इस प्रदेश में भी मैदानों का अभाव है। लगभग सभी प्रांत पहाड़ी हैं। नदियों के डेल्टों की भूमि ही खेती के योग्य है। केवल इरावदी नदी में ही नावें ऊपर तक जा सकती हैं। शेष सब नदियाँ भँवरों के कारण काम में नहीं आ सकतीं।

अफ्रीका महाद्वीप के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि यह सारा-का-सारा भूखण्ड एक ऊँचा पठार है, जिसकी बनावट अपने दक्षिणी भारत के पठार से मिलती-जुलती है। इसमें नीची भूमि का लगभग अभाव ही है। यहाँ की नदियाँ भी अपनी घाटियों में नीचे मैदान नहीं बना पातीं। समुद्र-तट के मैदान भी बहुत ही पतले-पतले हैं, जिनके ऊपर अचानक ही पठार की ऊँचाई आरम्भ हो जाती है, जिससे उत्तरीय भाग को छोड़कर, जहाँ पर नील नदी के डेल्टे के कारण नीची भूमि अधिक है, कहीं भी कोई अच्छा बन्दरगाह नहीं पाया जाता।

नील नदी अफ्रीका की सबसे महत्वपूर्ण और उपयोगी नदी है। इस नदी की लम्बाई ३५०० मील है। लम्बाई के अनुसार यह संसार की नदियों में दूसरा स्थान लेती है। विक्टोरिया झील से निकलकर यह नदी लगभग १००० मील तक एक बड़े मैदान में से बहुत ही धीरे-धीरे बहती है, जिससे इसमें सिवार घास बहुत उगती है और फलस्वरूप उसमें नावों के चलाने में भी कठिनाई पड़ती है। नदी के इस भाग में पानी भी अधिक नहीं रहता और कहीं-कहीं तो झीलें और दलदलें बन जाती हैं।

खारतूम नामक स्थान से आगे नदी की धारा तेज़ हो जाती है। इस भाग में अबीसीनिया की ओर से आकर कई नदियाँ गरमी में बहुत-सा जल इसमें डालती हैं जिसके कारण नील नदी में मई और अक्तूबर के महीनों के बीच में अधिक बाढ़ आ जाती है। ताना झील से आनेवाली मुख्य नदियाँ नीली नील और काली नील या अतबारा हैं।

नील नदी की ऊपरी घाटी का अधिकांश भाग सूदान में है। इस भाग में नीली नील और श्वेत नील के बीच का दोआबा, जिसे जज़ीरा (Gezira) कहते हैं, अधिक महत्व-पूर्ण भाग है।

कांगो नदी अफ्रीका की दूसरी प्रसिद्ध नदी है। इस नदी की घाटी भी उपयोगी है। इस नदी में नावें चलाने की भी सुविधा है।

दक्षिणी अफ्रीका में ज़ंबेसी और लिमपोपो नामक प्रमुख नदियाँ हैं। इन नदियों के मुखों के निकट समुद्र-तट पर काफ़ी चौड़े मैदान बन गए हैं। ये मैदान अपने उत्तरस्थित पूर्वीय अफ्रीका के मैदानों से अधिक चौड़े हैं। पश्चिम की ओर अन्य भागों की भाँति यह पठार भी भीतर ही की ओर धीरे-धीरे नीचा होकर कलाहारी का मरुप्रान्त बन जाता है। यह भाग लगभग वैसा ही नीचा है जैसा कांगो नदी का बेसिन। केवल जलवर्षा के प्रचुर मात्रा में न होने के कारण यहाँ की कोई भी नदी समुद्र तक नहीं पहुँचती। दक्षिण की ओर यह पठार ज़ीने की भाँति नीचे को उतर आया है, जिससे दक्षिण की ओर से देखने पर वह एक ऊँचा पहाड़-सा दिखलाई देता है, किन्तु उत्तर की ओर से आने पर उसका ढाल बहुत ही थोड़ा मालूम पड़ता है। ऊँचे उत्तरीय भाग को वेल्ड (Veld) कहते हैं। इससे नीचे के पठार के भाग को बड़ा कारू (Great Karroo) और उससे नीचे की घाटी को छोटा कारू (Small Karroo) कहते हैं। इसके बाद समुद्र तट का मैदान मिलता है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर दक्षिण-पूर्व की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। पश्चिमी समुद्र-तट का मैदान बहुत ही कम चौड़ा है।

अफ्रीका को छोड़कर अब हम नई दुनिया की ओर चलते हैं। नई दुनिया की बनावट यूरेशिया से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। उत्तरीय अमेरिका में अपेलेशियन और राकी नामक पहाड़ों के मध्य में एक बहुत बड़ा मैदान है, जिसका ढाल दोनों पहाड़ों के मध्य की ओर होता है। इसी विस्तृत मैदान में मिसिसिपी नदी बहती है। राकी पहाड़ के पड़ोस में यह मैदान बहुत ही ऊँचा है, किन्तु वहाँ से पूर्व की ओर जाने पर इसके ढाल में विशेषतया उत्तरीय भाग से चढ़ाव-उतार आरम्भ हो जाता है। इन सभी मैदानों का ढाल इतना थोड़ा है कि देखने में ये बिल्कुल ही समतल-से लगते हैं। ये मध्य के मैदान आगे जाकर दक्षिणीय समुद्र-तट और पूर्वीय समुद्र-तट के मैदानों से मिल गए हैं। समुद्र-तट के मैदानों की चौड़ाई काफ़ी है। ये मैदान नदियों के द्वारा बहाकर लाई गई मिट्टी से बने हैं।

उत्तरीय समुद्र-तट पर 'कनाडा की ढाल' के उत्तर में भूमि का अधिकांश नीचे को धँस गया है। इसी के कारण समुद्र के किनारे-किनारे नीची भूमि पाई जाती है। पश्चिमी समुद्र-तट पर मैदान का अभाव-सा है।

राकी-पर्वत और बड़ी झीलों के बीच में प्रसिद्ध प्रेरी का मैदान है। इस मैदान में पहाड़ बिल्कुल ही नहीं पाये जाते। इसकी भूमि उपजाऊ काली मिट्टी से बनी है। इस मिट्टी का काला रंग सड़ी-गली घास-फूस की अधिकता के ही कारण काला हो गया है। प्रेरी के मैदान में किसी समय एक विशाल मीठे पानी का जलाशय था, जिसके अवशेष अंग अब बड़ी झीलों के रूप में रह गए हैं। मैदान की भूमि इसी विशाल जलखण्ड की तली रही होगी।

कनाडा के दक्षिण पहुँचने पर हमको संयुक्त राष्ट्र का दक्षिणीय और पूर्वीय मैदान मिलता है। हडसन नदी को पारकर दक्षिण की ओर जाने पर यह मैदान अधिक चौड़ा होता जाता है और पूर्वीय पहाड़ी भाग के नीचे से आरम्भ होकर अटलाण्टिक महासागर के तट तक फैल जाता है। फ्लोरिडा का प्रायद्वीप भी इसी मैदान में सम्मिलित है। यह मैदान काफ़ी उपजाऊ है।

उत्तरीय अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के मध्य में अपेलेशियन और राकी पहाड़ों के बीच में बहुत विस्तृत मैदान है। इसका पश्चिमी भाग काफ़ी ऊँचाई पर है। यह ऊँचाई मिसौरी नदी के निकट से आरम्भ हो जाती है और शनैः-शनैः राकी पहाड़ तक चली जाती है।

पैसिफ़िक तट पर कोलम्बिया नदी की घाटी में नीची भूमि पाई जाती है, परन्तु इसकी चौड़ाई ५० मील से अधिक नहीं है।

उत्तरी अमेरिका में अनेकों बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं। मिसिसिपी और मिसौरो की लंबाई मिलकर संसार में सबसे अधिक है। कुछ नदियाँ पैसिफ़िक महासागर में गिरती हैं और कुछ अटलाण्टिक महासागर में। पैसिफ़िक में

गिरनेवाली नदियों की अपेक्षा अटलाण्टिक में गिरनेवाली नदियाँ अधिक महत्व की हैं। नक़शा देखने से ही इसका कारण समझ में आ जाता है। पैसिफ़िक महासागर में जानेवाली नदियों को पश्चिमी पहाड़ी ढालों से बहकर समुद्र-तट की पतली समतल भूमि को पारकर समुद्र में जाना होता है। ऊँचे पहाड़ी ढालों पर बहने के कारण इनमें नावें चलाना असम्भव-सा है। इनमें से कुछ नदियाँ पठारों को काटकर सँकड़ी घाटियों और गहरे खड्डों में बहती हैं। फ्रेज़र नदी वैंकोवर द्वीप के पीछे समुद्र में मिलती है। इस नदी को एक ऐसे गहरे और सँकड़े खड्ड से होकर बहना पड़ता है, जिसमें सूर्य का प्रकाश कभी पहुँचता ही नहीं। इसी नदी की घाटी से होकर कैनेडियन पैसिफ़िक रेलवे वैंकोवर तक पहुँचती है।

कोलम्बिया और स्नेक (कोलम्बिया की सहायक नदी) भी पतली संकीर्ण घाटियों में बहती हुई समुद्र-तट तक पहुँचती हैं। कोलोरेडो नदी, जो कैलिफ़ोर्निया की खाड़ी में मिलती है, बड़े-बड़े विशाल खड्डों में से बहती है। इसके मार्ग का एक खड्ड दो सौ मील से भी अधिक लम्बा है और खड्ड की दीवालों की चट्टानें कहीं-कहीं एक मील से भी अधिक ऊँची खड़ी हैं!

उत्तर में यूकॉन नाम की बहुत लम्बी नदी है। परन्तु उत्तरी अक्षांशों में होने के कारण इसमें साल के अधिकांश दिनों में बर्फ़ जमी रहती है।

अटलाण्टिक महासागर की ओर बहनेवाली नदियों में से बहुत कम अधिक लम्बी हैं। हडसन, दिलावर, सास्केच्वान और पोटोमक प्रसिद्ध और अधिक उपयोगी नदियाँ हैं। इनकी घाटियों में से होकर पूर्वीय पठार से मध्य के मैदानों को बड़ा सरल मार्ग मिल जाता है। इनकी घाटियों में रेलों और सड़कों के मार्ग बनाये गए हैं।

मध्य भाग के मैदानों में इससे भी अधिक लम्बी नदियाँ सिंचाई करती है। मैकेंज़ी नदी उत्तर की ओर आर्कटिक महासागर में जा मिलती है। इसमें अनेकों झीलों से जल बह-बहकर आता है। परन्तु यूकॉन की भाँति मैकेंज़ी का उपयोग भी अधिक नहीं होता। उत्तर में विनिपेग झील में आकर कई नदियाँ मिलती हैं। इनमें से रेड नामक नदी बहुत उपजाऊ घाटी में होकर बहती है। विनिपेग झील से नेलसन नदी निकलकर हडसन की खाड़ी में गिरती है। परन्तु यह नदी भी वर्ष के अधिकांश दिनों में बर्फ़ से ढकी रहती है।

सेंट लारेंस नदी बहुत महत्व की है। इस नदी में सुपीरियर, मिचिगन, हूरन, ऐरी और ओन्टेरियो आदि झीलों का जल बहकर आता है। इन झीलों के द्वारा बहुत व्यापार होता है और झीलों के तटों पर कई अच्छे बन्दरगाह बन गए हैं। ऐरी झील से निकलकर जब सेंट लारेंस नदी ओन्टेरियो झील की ओर जाती है तब इसको नियागरा नाम से पुकारा जाता है। इस मार्ग में थोड़ी दूर बढ़ने पर नदी की धारा में भँवर पैदा हो जाते हैं, जिसमें नावों का चलना असम्भव होता है। इन्हीं भँवरों के नीचे एक स्थान पर नदी की धारा एकदम १६० फ़ीट नीचे उत्तर जाती है। यहीं पर सुप्रसिद्ध नियागरा का झरना बना है, जिसे देखने सहस्रों यात्री आते हैं।

झीलों से आगे बढ़ने पर इस नदी की धारा चौड़ी हो जाती है और ६०० मील बहने के उपरान्त महासागर में मिल जाती है। इस नदी के मार्ग से बड़े-बड़े स्टीमर झीलों तक पहुँचते हैं। व्यापार के लिए यह संसार भर में सबसे अधिक उपयोगी नदी है।

मध्यवर्ती मैदान का दक्षिणी भाग मिसिसिपी नदी की उपत्यका है। दाहिनी ओर से यह पश्चिमी पहाड़ों का जल बहा लाती है और बाईं ओर की शाखाएँ पूर्वी उच्च भूमि का। यह सुपीरियर झील के समीप एक छोटी झील से निकलकर मैदान के बीच से होकर दक्षिण की ओर बहती है और अन्त में मेक्सिको की खाड़ी में मिल जाती है। मध्य में सेण्ट लुई के समीप इसमें इससे भी लम्बी मिसौरी नदी मिलती है। मिसौरी नदी पश्चिमी पहाड़ों से निकलकर आती है और ३००० मील (काश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक की दूरी) की यात्रा के पश्चात् मिसिसिपी से मिल जाती है। आगे चलकर मिसिसिपी नदी बाईं ओर से आनेवाली ओहियो नदी का जल ग्रहण करती है। समुद्र में मिलने से पूर्व ३०० मील पहले ही इसकी कई धाराएँ हो जाती हैं और गंगा नदी की भाँति बड़ा-सा डेल्टा बनाती हैं।

वेस्ट इंडियन द्वीप अधिकतर नीचे मैदानोंवाले हैं। इनकी मिट्टी बहुत उपजाऊ है और उनमें खेती करने की बहुत सुविधा है।

दक्षिणी अमेरिका में अमेज़न नदी का मैदान है। इस मैदान में ताप और वर्षा की अधिकता के कारण, बहुत घने वन पाये जाते हैं। वनों से ढके हुए इस मैदान को सेल्वा (Selva) कहते हैं। वनों की सघनता के ही कारण इस मैदान में मार्ग के साधन केवल अमेज़न और उसकी सहायक नदियाँ ही हैं। ये नदियाँ इतनी बड़ी हैं

कि इनमें कई सहस्र मील तक छोटे-छोटे जलयान बड़ी सरलता से चलाये जाते हैं। घने वनों, अधिक वर्षा और ताप, तथा रोग की अधिकता के कारण इन मैदानों की उन्नति नहीं हो सकी है।

'प्लेट नदी की घाटी' दूसरा नीचा भाग है और यही दक्षिणीय अमेरिका का सबसे समुन्नत भाग है। प्लेट नदी की एक लम्बी इस्चुअरी है, जिसमें पराना और पराग्वे नामक नदियाँ मिलती हैं। इन नदियों की घाटियों में उपजाऊ भूमि अधिक है। इन मैदानों में घास अधिक होती है और इनको 'पंपा' (Pampa) कहते हैं। प्लेट नदी का सबसे महत्वपूर्ण भाग आर्जेंटाइन देश है।

पराना और पराग्वे नामक नदियों की घाटियों के ऊपरी भाग अधिक महत्व के हैं और समतल भूमि के रूप में हैं। ओरीनोको नामक नदी की घाटी के भी मैदान ध्यान देने योग्य हैं। दक्षिणी अमेरिका में समुद्र-तटवर्ती मैदानों का अभाव ही है।

स्थल का अन्तिम विशाल खण्ड आस्ट्रेलिया है। इस भूखण्ड के विषय में हम पहले ही जान चुके हैं कि यह सारा का सारा महाद्वीप एक पठार है, जिसके पश्चिमी और पूर्वीय भाग उभरे हुए हैं। पठार का ढाल अधिकतर भागों में भीतर की ही ओर है, जिसके कारण बहुत ही कम नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं। पूर्वीय पहाड़ों से पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण तक एक मैदान है, जिसके दक्षिणीय भाग में आस्ट्रेलिया की प्रधान नदी मरे (Murray) अपनी सहायक नदियों डार्लिंग तथा मरमबजी के साथ बहती हैं। मरे नदी की घाटी तथा उससे मिला हुआ दक्षिणीय समुद्र-तट ही आस्ट्रेलिया के सबसे अधिक उन्नति-प्राप्त भाग हैं। इसी भाग में आस्ट्रेलिया की जनसंख्या का अधिकांश पाया जाता है। मरे नदी का महत्व मार्ग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है, क्योंकि इस नदी के मुख के निकट एक बालू की भीत (Sand Bar) है, जिसके कारण समुद्र के जहाज़ इस नदी में नहीं आ सकते। साथ ही इस नदी में केवल वर्षा ऋतु ही में लगातार जलधारा बहती है। शेष ऋतुओं में तो स्थान-स्थान पर इसका जल सूख जाता है, जिसके कारण इसमें नावों का आनाजाना असम्भव हो जाता है। न्यूज़ीलैण्ड में मैदानों का एक प्रकार से अभाव ही है।

इस प्रकार हमने धरातल के भूखण्डों की भूमि का निरीक्षण समाप्त कर लिया। कहाँ पर ऊँची भूमि है और कहाँ पर नीची यह हम जान गए। नदियों के प्रवाहमार्ग से हम यह भी जान गए कि ऊँची और समतल भूमि का ढाल कहाँ पर किस ओर है। मनुष्य के लिए धरातल के मैदानों का महत्व सबसे अधिक रहा है। आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से मनुष्यों की उन्नति उन्हीं देशों और भूखण्डों में हुई है, जहाँ पर मैदानों की अधिकता है। विस्तृत मैदान ही में मनुष्यों की घनी जन-संख्या पाई जाती है। मैदानों को उत्पन्न करने का श्रेय नदियों को ही है। कहीं-कहीं मैदान समुद्र-तट पर भी समुद्र की प्रतिक्रिया से बने हैं, परन्तु ऐसे मैदानों का विस्तार अधिक नहीं है। बड़ी-बड़ी जलधाराएँ जल-मार्गों के लिए भी उपयोग में लाई जाती हैं।

समस्त स्थलखण्ड में अधिक लम्बे-चौड़े मैदान योरप, एशिया (रूस, चीन, भारत और मैसोपटामिया के मैदान बहुत महत्व के हैं) और उत्तरीय अमेरिका में पाये जाते हैं। अफ्रीका और आस्ट्रेलिया दोनों पठारखण्ड हैं। यहाँ या तो मैदानों का सर्वथा अभाव है, अथवा नदियों की घाटियों में संकीर्ण मैदान पाये जाते हैं। अफ्रीका में नील नदी की घाटी का मैदान बहुत ही महत्व का है। ग्रीनलैण्ड भी पहाड़ी देश है। दक्षिणीय ध्रुव-प्रदेश के विषय में भी जहाँ तक ज्ञात हुआ है यही मालूम होता है कि वहाँ पर भी पहाड़ी भूमि ही है।

संसार में नदियों की उपत्यकायें लगभग अधिकांश समतल मैदान के रूप में हैं। अधिकांश मैदान नदियों में प्रचुर जल होने के कारण ही महत्व के हैं। मैदानों के नाम भी इसीलिए नदियों के नाम से संयुक्त कर दिये गए हैं। गंगा और सिन्धु का मैदान, यांगसीक्यांग और ह्वांगहो का मैदान, राइन नदी की घाटी, मिसिसिपी का मैदान, अमेज़न की घाटी, और नील नदी की घाटी आदि मैदान नदियों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

मैदानों में ही संभवतः सभ्यता ने पहले-पहल जन्म लिया, और उसका विकास भी नदियों से सिंचित मैदानों में ही हुआ। सिंधु और गंगा-यमुना की उपत्यका में भारतीय सभ्यता, दजला-फ़रात के दोआबे में प्राचीन सुमेरियन और बेबीलोनियन सभ्यता, नील की घाटी में मिस्र की सभ्यता और ह्वांगहो-याग्सीक्याङ्ग द्वारा सिंचित चीन के मैदानों में प्राचीन चीन की सभ्यता ने विकास पाया। निस्संदेह, मैदान ही इस पृथ्वी पर मनुष्य की प्रधान लीलाभूमि रहे हैं।

मनुष्य के आर्थिक जीवन पर इन मैदानों का क्या प्रभाव पड़ता है, यह आपको अन्यत्र बताया जायगा।
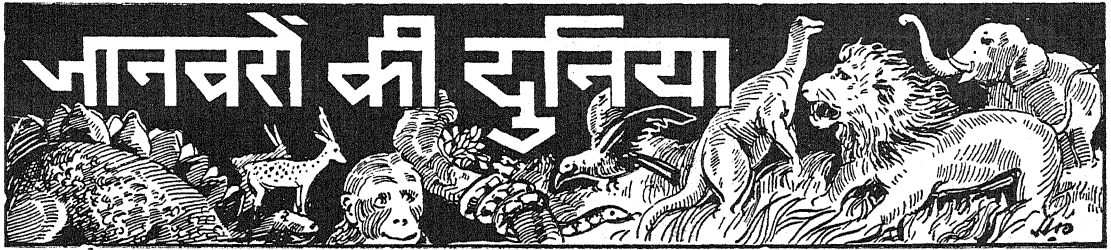
भारतवर्ष तथा अन्य देशों के स्तनधारी जीव और उनकी रहन-सहन—२

कीटाणु-भक्षक

स्तनधारियों की बहुत-सी उपजातियाँ कीटाणु-भक्षक हैं, किन्तु एक समूह में इस प्रकार भोजन करनेवाले इतनी अधिक संख्या में मौजूद हैं कि उनके लिए एक अलग कक्षा नियुक्त हो गई और उनका नाम 'कीटाणु-भक्षक, या इन्सेक्टीवोरा (Insectivora) रक्खा गया है। इनमें से छछूँदर, झाऊचूहे और वृक्ष-वासी छछूँदर या टुपैया (Tupaia) भारतवर्ष में पाये जाते हैं और अन्य सब दूसरे देशों में मिलते हैं। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका में इनका एक भी प्रतिनिधि नहीं है। इस उपजाति के अधिकतर जन्तु छोटे, लम्बे मुँहवाले तथा नर्म बालवाले होते हैं। कुछ उपजातियों में शरीर पर काँटे भी होते हैं। इनके शरीर में गन्धदायक गुत्थियाँ होती हैं।

मलाया का उड़नेवाला कीटाणु-भक्षक कोबीगो (Cobego)—कीटाणु-भक्षकों में सबसे अनूठा कोबीगो नाम का एक पशु है, जो मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, टेनासरिम, और फ़िलिप्पाइन्स आदि द्वीपों में मिलता है। इसकी खाल शरीर के दोनों तरफ़ सिर से अगली टाँगों, अगली टाँगों से पिछली टाँगों और पिछली टाँगों से दुम तक फैली रहती है। जब वह अपनी टाँगों और दुम को फैलाता है तो यह खाल छाते की तरह उसके शरीर को हवा में साध लेती है और वह इसी प्रकार फैलाई हुई झिल्ली के सहारे एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक २०० फ़ीट दूर तक हवा में बहता हुआ निकल जाता है।

कोबीगो या उड़नेवाला अर्द्ध-वानर

जो टेनासरिम, मलाया प्रायद्वीप, श्याम तथा निकटवर्त्ती द्वीपों में पाया जाता है। इसके नीचेवाले सामने के दाँत समस्त जन्तु-जगत् में बिलकुल निराले हैं, मानों वे दाँत नहीं बल्कि नन्हीं-नन्हीं कंघियाँ हैं। ये अपने हाथ-पैरों को फैलाये हुए हवा में ७० गज़ दूर तक सरकते हुए एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक चले जाते हैं।

उड़नेवाली झिल्ली के अतिरिक्त उसमें अन्य कीटाणु-भक्षकों से एक भेद और है। वह यह है कि यह कीड़े-मकोड़े नहीं खाता, बल्कि पत्तों से अपनी गुज़र करता है। इसी कारण इसके दाँत भी अन्य जीवों से भिन्न होते हैं।

छछूँदर—छछूँदर और उसकी दुर्गन्ध से तो सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं। वह रात में नालियों द्वारा घरों में घुस आती है और 'चिट्-चिट्' करती हुई कोनों-कोनों में फिरा करती है। एक बार जहाँ से वह निकल जाती है, अपनी निराली दुर्गन्ध वहाँ छोड़ जाती है। कहावत है कि अपनी बदबू के ही कारण उसको साँप और बिल्ली भी छोड़ देते हैं। धोखे से यदि यह कभी उनके मुँह में

उत्तरी अमेरिका का सबसे छोटा स्तनधारी श्रू
यह २-२॥ इंच का ही होता है। इतना छोटा तथा देखने में भोला और संकोची होते हुए भी यह बड़ा सख़्त लड़ाकू होता है और अपने से कई गुनी बड़ी चुहियों से निर्भयता-पूर्वक भिड़ जाता है। यदि कहीं दो श्रू एक ही पिंजड़े में बंद हो जायँ तो उनमें घमासान युद्ध होता है और बहुधा वे एक दूसरे को मारकर खा जाते हैं। इसीलिए अंग्रेज़ी भाषा के शब्द 'श्रू' के अर्थ झगड़ालू स्त्री के हैं। यह छोटे जीव नई दुनिया और पुरानी दुनिया दोनों ही में बहुतायत से मिलते हैं, लेकिन ये इतने छोटे, शर्मीले और फुर्तीले जीव हैं कि हम उनसे सब स्तनधारियों की अपेक्षा कम परिचित हैं। अक्सर लोग उनको चुहिया ही समझ लेते हैं।

चली जाती है तो वे इसे फ़ौरन् ही बाहर उगल देते हैं!

जिस तेज़ी से छछूँदर अपना बिल खोद सकती है इसका संभवतः आपको अनुमान न होगा। यदि आपने उसे कभी बिल खोदते नहीं देखा है तो शायद आपको विश्वास न होगा कि वह १० सैकंड में अपना बिल खोदकर आपकी निगाह से ग़ायब हो सकती है। तीन मिनट में १ फ़ीट के हिसाब से वह बिल या सुरंग खोदती है! कहा जाता है एक छछूँदर ने २५ घंटे में ६८ फ़ीट लम्बी सुरंग खोद ली थी और दूसरी ने एक ही रात में १०० गज़ लम्बी सुरंग तैयार कर ली थी! ऐसी फुर्तीली होने के लिए उसमें शक्ति कहाँ से आती है? वही छोटे-मोटे कीड़े—जिन्हें वह बहुत बड़ी मात्रा में खा जाती है—उसे इतना बल देते हैं। अन्दाज़ लगाया गया है कि यदि पा जाय तो वह बोझ में अपने से दुगने कीड़े दिन-भर में समाप्त कर देती है! हानिकारक कीड़ों को नष्ट करने में छछूँदर हमारे लिए बहुत लाभदायक जीव है।

झाऊचूहा—झाऊचूहे की दो उप-जातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं। एक दक्षिण में नीलगिरि पर्वत पर मिलती है, दूसरी संयुक्त-प्रान्त, पंजाब और सिन्ध में रहती है। दोनों एक ही जाति—एरीनेसियस (Erinaceous)—में शामिल हैं। झाऊचूहे योरप, चीन और एशिया के अन्य भागों में भी मिलते हैं। वे क़द में ८-६ इंच के होते हैं। उनकी टाँगें और आँखें छोटी-छोटी होती हैं। शरद् ऋतु में वे मोटे हो जाते हैं और शीतकाल के आगमन पर वे सूखे पत्तों के घोंसले में छिपकर समाधि लगा लेते हैं। जाड़ा वे इसी प्रकार सोते हुए बिता देते हैं। कीटाणु-भक्षक समूह में होते हुए भी अवसर पाकर बिना खोलवाले घोंघे, केंचुए, मेढक, सर्प और चुहियों को भी यह जीव अपने आहार में सम्मिलित कर लेता है।

चूहों के पकड़ने में वह बिल्ली से भी अधिक दक्ष होता है। जिस घर में वह पहुँच जाता है उसमें चूहों का नाम भी नहीं रह जाता। उसमें एक बड़ा गुण सर्पनाशक होने का भी है। उसको साँप के विष से कोई हानि नहीं होती। वह साँप को सहज में वशीभूत कर लेता है और उसे चबा डालता है। झाऊचूहा रक्षा के लिए अपने काँटों का ही आश्रय लेता है। उसकी पीठ पर कुछ ऐसे पुट्ठे होते हैं जिनके द्वारा वह काँटों को खड़ा कर लेता है और गोल होकर शरीर के सारे कोमल अँगों को पेट के नीचे छिपा लेता है। उत्तरी हिन्द के झाऊचूहे के काँटों का रँग काला और सफ़ेद होता है और उनके नीचे मोटे-मोटे बाल भी होते हैं। उसकी दुम छोटी, घ्राणेन्द्रिय तीव्र, और दृष्टि निर्बल होती है। उसके मुँह में कील-दन्त भी नहीं होते।

कुतरनेवाले जीव या रोडेन्टस्

कुतरनेवाले स्तनपोषी सारे भूखण्ड पर फैले हुए हैं। उनकी जनसंख्या और उपजातियों की तादाद सबसे बढ़ी-चढ़ी है। उनमें से ज़्यादातर क़द में छोटे और ज़मीन पर रहनेवाले हैं। लेकिन गिलहरी के अतिरिक्त कुछ ऐसे चूहे और चुहियाँ भी हैं जो पेड़ों पर रहते हैं। कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं जो लटकती हुई ढीली खाल की सहायता से एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक हवा में उड़ जाती हैं। कुछ प्राणी पानी में भी रहनेवाले हैं, जैसे बीवर तथा जलवासी चूहे। इनकी सबसे अच्छी पहचान इनके दाँत

हैं। सामने के दाँत बड़े और छेनी की तरह चौड़े रहते हैं। कीलें होती ही नहीं, उनका स्थान ख़ाली रहता है। डाढ़ें चबाने योग्य होती हैं। उनके दाँत कठोर वस्तुओं को कुतर-कुतरकर काटने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इसी लक्षण के कारण उनकी कक्षा का नाम कुतरने-वाले अथवा 'रोडेन्शिया' रक्खा गया है। इनके कृन्तक दन्तों के सदा बढ़ते रहने और घिसने के विषय में हम आपको पहले ही बतला आए हैं। इस श्रेणी के जानवर अपना निर्वाह फल-फूल, अनाज, बीज, जड़ और वृक्षों की छाल पर करते हैं, किन्तु इनमें से कुछ सर्वभक्षी भी हैं।

कुछ कुतरनेवाले जीव ऐसे हैं, जिनमें ऊपर के जबड़े में दो ही कृन्तक दन्त होते हैं, जैसे चूहे-चुहियाँ, गिलहरी, सेही इत्यादि। कुछ ऐसे हैं, जिनके ऊपरी जबड़े में चार कृन्तक होते हैं, जैसे ख़रगोश, खरका और पाइका। चूहा-चुहिया, ख़रगोश, गिलहरी, सेही इत्यादि जीवों से तो अधिकतर भारतवासी भली-भाँति परिचित हैं, इसलिए यहाँ हम दो-चार ऐसे जन्तुओं का ही हाल लिखेंगे जिनको साधारण लोग न जानते हों। किन्तु इससे पहले आपका ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं कि ये छोटे-छोटे पशु हमें कितना नुक़सान पहुँचाते हैं।

कुतरनेवाले जन्तुओं में चूहे सबसे अधिक हानिकारी हैं

नाना प्रकार के चूहे—भूरे, काले, घरेलू, खेत के या जंगल के—सभी हमारे काम की वस्तुओं को खाते और नष्ट करते हैं। सब खेती करनेवाले जानते हैं कि चूहे और सेही आलू और शकरकंद आदि तक खोदकर खा जाते हैं। सेही फल और नाज के पौधे तक काटकर गिरा देते हैं और गिलहरी फलों को कुचल डालती है। परन्तु आप यह जानकर स्तम्भित रह जायँगे कि अकेला भूरा चूहा ही कितना नुक़सान हमें पहुँचाता है। भार-तीय घरेलू भूरा चूहा बहुसन्तानी जीव है। तीन मास की आयु से ही इसकी मादा बच्चे देने लगती है और प्रतिवर्ष कम-से-कम तीन बार उसके बच्चे पैदा होते हैं। प्रत्येक बार वह १०-१२ बच्चों को जन्म देती है। इससे आप अनुमान करें तो एक जोड़े के सन्तान की संख्या तीन वर्ष में २ करोड़ से भी अधिक हो जायगी! यदि एक चूहा प्रतिवर्ष एक सेर अनाज खा डाले तो इन २ करोड़ चूहों के लिए ५ लाख मन अनाज चाहिए। इतने अनाज का मूल्य १० सेर प्रति रुपया के हिसाब से ५०,००० रुपए साल हुआ!

हिन्द का हिरनामूसा

जो मध्य एशिया, लंका, पूर्वी-दक्षिणी योरप और अफ्रीका में भी मिलता है। इसका शरीर ६-७ इंच लम्बा और दुम ८ इंच के क़रीब होती है। कंगारू की तरह यह भी पिछले पैरों पर बैठ जाता है। दुम के सहारे उछलकर ऐसे वेग से छलाँगें मारता है मानों उड़ा जा रहा हो। कहते हैं कि वह तीव्र-गामी घोड़े की गति से भाग सकता है। अँधेरा होने पर वह अपने बिल से निकलकर भोजन की खोज में कूदता-फिरता है।

हिसाब लगाया गया है कि फ्रांस में इस छोटे-से जन्तु द्वारा साल में १२ करोड़ रुपए का नुक़सान होता है।

मेजर कुनहार्ट ने एक बार गणना की थी कि २० वर्ष में जितना ख़र्च भारत की सारी सेना पर हुआ उससे दुगना चूहों पर करना पड़ा। यह कैसे? सुनिए—

(१) ६,०००,०००,०००) रु० मूल्य की वस्तुएँ चूहों ने खा डालीं या नष्ट कर दीं।

(२) ६,०३०,०००,०००) रु० की आर्थिक हानि प्लेग की बीमारी से मनुष्यों की अकाल मृत्यु होने तथा रोगी होकर काम के अयोग्य हो जाने से हुई।

(३) ३६५,०००,०००) रु० प्लेग से जनता की रक्षा करने के उपायों में व्यय हुए। इन सबका जोड़ १२,४२५,०००,०००) रु० होता है। क्या आप स्वप्न में भी कल्पना कर सकते थे कि ये नन्हें-से जीव हमारे कैसे भारी शत्रु हैं? ये हमारे साथ कैसा अत्याचार किया करते हैं! वे अपने छोटे क़द, फ़ुर्तीले शरीर और भूमि के भीतर रहने के कारण बचे रहते हैं। हम चाहे कितना ही उपाय करें, लेकिन फिर भी उनकी आबादी अधिक कम नहीं कर पाते।

कुतरनेवाले जीव सदा हमको हानि ही नहीं पहुँचाते हैं, उनसे मनुष्यों को कुछ फ़ायदा भी होता है। प्राचीन मनुष्य उनमें से सभी को खाता रहा है और अमे-रिका के प्राचीन निवासी—रेड इंडियन—अब भी ऐसा ही करते हैं। गिलहरी और ख़रगोश उन

लोगों में बराबर खाये जाते हैं। सेही के काँटों के वे आभूषण बनाते हैं। कस्तूरी चूहे और बीवर के नर्म बाल आजकल भी बहुत-से कामों में आते हैं और इनका व्यापार भी होता है। हमारे देश में भी जंगली चूहा, ख़रगोश और सेही खाये जाते हैं।

कुतरनेवाले जीवों का दूसरा समूह—गिलहरियाँ—गिलहरियों में से बहुत-सी ऐसी हैं जो अपना अधिक समय वृक्षों पर ही काटती हैं। कुछ पहाड़ी चट्टानों पर रहना पसन्द करती हैं, जैसे चिपमुंक (Chipmunk)। कुछ ऐसी भी हैं जो भूमि पर ही बिलों में रहती हैं और कुछ उड़नेवाली गिलहरियाँ भी हैं जो कभी-कभी एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक हवा में उड़कर पहुँच जाती हैं। गिलहरियों की चंचलता और फ़ुर्ती प्रसिद्ध है। थोड़ी देर भी वे एक ठिकाने पर विश्राम करते नहीं देखी जातीं। 'चिट्-चिट्', 'चुक-चुक' करती हुई कभी यहाँ, कभी वहाँ, कभी इस डाल पर, कभी उस डाल पर कूदती-फुदकती नज़र आती हैं। एक डाल से दूसरी डाल पर कैसे अचूक निशाने से वे कूद जाती हैं! उसमें उन्हें कभी भी धोखा नहीं होता। वे कभी-कभी चिड़ियों के अंडे भी लूटकर खा जाती हैं। कड़े-से-कड़े फलों के छिलके पल भर में अपने तेज़ दाँतों से कुतर डालती हैं। अगले पंजों में पकड़कर भोजन कुतरती हुई वे कैसी सुन्दर लगती हैं! अपने बच्चों के रहने के लिए वे छोटी-छोटी टहनियों और पत्तियों के घोंसले बना लेती हैं।
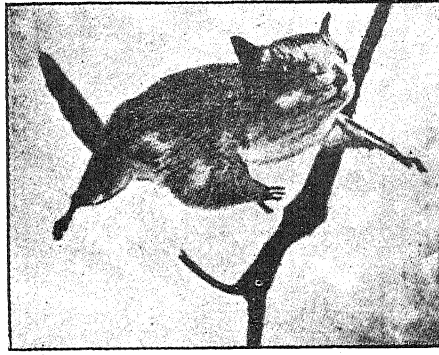
ब्रह्मा की छोटी उड़नेवाली गिलहरी जो उड़ने के लिए बिलकुल तैयार है। उसके फैले हुए हाथ-पैर और चौड़ी उठी हुई दुम देखिए। वह चिड़ियों की तरह तो नहीं उड़ पाती, लेकिन वह हवा में तैरती हुई-सी लम्बे-लम्बे फ़ासलों को बड़ी ही सरलता से पार करके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुँच जाती है।

उड़नेवाली गिलहरियाँ—भारतवर्ष में धारीदार गिलहरी, जंगली गिलहरी और कलाट गिलहरी के अलावा उड़नेवाली भूरी गिलहरियाँ भी मिलती हैं। उत्तरी भारत में एक जाति की उड़नेवाली गिलहरी (Eupetaurus) मिलती है और दक्षिण के प्रायद्वीप में दूसरी ही जाति की एक गिलहरी (Petaurista) होती है। पिछली जाति की उड़नेवाली गिलहरियाँ लंका से जापान तक के सभी देशों में तथा द्वीपों में मिलती हैं। ये सब १८-२० इंच लम्बी हुआ करती हैं, परन्तु कुछ छोटे क़द की भी उड़नेवाली गिलहरियाँ हैं। एक तो स्कैन्डीनेविया और रूस से लेकर जापान तक फैली हुई है। किन्तु सबसे छोटी उड़नेवाली गिलहरी, जो बोर्नियो में मिलती है, केवल चूहे के बराबर होती है। ये अजीब गिलहरियाँ जंगलों में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों पर घने भागों में निवास करती हैं। सन्ध्या समय और रात्रि में वे खेल-कूद करने को बाहर निकलती हैं। वे अंधेरे में अच्छी तरह देख सकती हैं। दिन भर वे गुड़ी-मुड़ी हो वृक्ष की किसी खोह या अपने घोंसले में पड़ी सोया करती हैं। भूमि पर वे बहुत कम आती हैं और जब आती हैं तो उछल-उछलकर चल पाती हैं। एक पेड़ से जब वे दूसरे पेड़ पर जाना चाहती हैं तो पेड़ की सबसे ऊँची डाल पर चढ़कर हवा में कूद पड़ती हैं और तैरती हुई दूसरे पेड़ की किसी शाखा पर जा बैठती हैं। जौर्डन साहब ने अपनी किताब में भारतीय प्रायद्वीप की उड़नेवाली गिलहरी के बारे में लिखा है:—

"मैंने अनेकों बार उन्हें उड़ते देखा है। एक बार एक गिलहरी एक पेड़ से दूसरे पर उड़ी और उसने ६० गज़ से कुछ अधिक फ़ासला पार कर लिया! दूसरे पेड़ के पास पहुँचते-पहुँचते वह भूमि से कुछ ही ऊँची रह गई थी, इसलिए उसे उड़ान के अन्त में एक नीचे की शाखा पर पहुँचने के लिए ऊपर को उठना पड़ा। इस प्रकार गिलहरियों को ऊपर उठते हुए मैंने और कई बार देखा है।"

इन सुन्दर स्वप्निल आँखोंवाले वनवासी अनाथ जीवों के शरीर में उड़ने के लिए दोनों बग़ल कलाई से टख़ने तक लटकती हुई खाल होती है, जो आगे की ओर कलाई से निकले हुए एक छड़ या काँटे से चिपटी रहती है। जब गिलहरी हवा में उतरना चाहती है तो अपनी टाँगों को फैला लेती है, जिससे यह लटकनेवाली खाल छाते की तरह फैल जाय और उसके शरीर को हवा में साधे रहे। अपनी चौड़ी चपटी दुम से भी वह उड़ने में सहायता लेती है।

कुतरनेवालों में सबसे बड़ा और चतुर जंतु—बीवर—बीवर मनुष्य के अतिरिक्त स्तनधारियों में सबसे प्रसिद्ध

सहवासप्रिय जन्तु गिना जाता है। एक ही घर में कई बीवर मिलकर रहते हैं और एक ही स्थान में उनके बहुत-से घर हुआ करते हैं। इस तरह उनके दल-के-दल बस्तियों में निवास करते हैं। बीवर के जीवन की सभी मनोरंजक बातों का हाल लिखा जाय तो एक किताब बन जाय। उसकी शरीर-रचना, स्वभाव, परिश्रमशीलता, सहयोग, सहकारिता सभी ध्यान देने योग्य बातें हैं।

बीवर की एक उप-जाति उत्तरी अमेरिका और दूसरी योरप में मिलती है। दोनों ही महाद्वीपों में अब इनकी संख्या बहुत कम हो गई है, क्योंकि कुछ समय पहले बीवर के समूर और खाल की बड़ी माँग थी। बीवर की खाल टोप बनाने के काम में अधिकता से आती थी। इसका कुछ अन्दाज़ हमें इस बात से हो सकता है कि लगभग १७५ वर्ष पूर्व कनाडा के क्यूबेक नगर से १ लाख से अधिक खालें बाहर भेजी जाती थीं। आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य के हाथ से ऐसा विध्वंस होने पर भी बीवर जाति पृथ्वी पर क़ायम रही! इसका एक मुख्य कारण यही समझ में आता है कि वे छिप-कर रहते हैं। अब तो कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह नियम बना दिया है कि उन्हें कोई न मारे। बीवर सदा अपना घर नदी के तट पर ही बनाता है और प्रति वर्ष वह अपने गृह को बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि उनके घर का व्यास २० फ़ीट या उससे भी अधिक हो जाता है और वह बाहर से देखने में गुम्बद के समान दिखलाई पड़ता है। छेनी जैसे दाँतों से वह वृक्षों की लकड़ियों और टहनियों को मनमानी लम्बाई की काटकर घर बनाने के लिए लाता है। उन्हें वह एक दूसरे के ऊपर ऐसा फँसाकर लगाता और मिट्टी से बाँध देता है कि
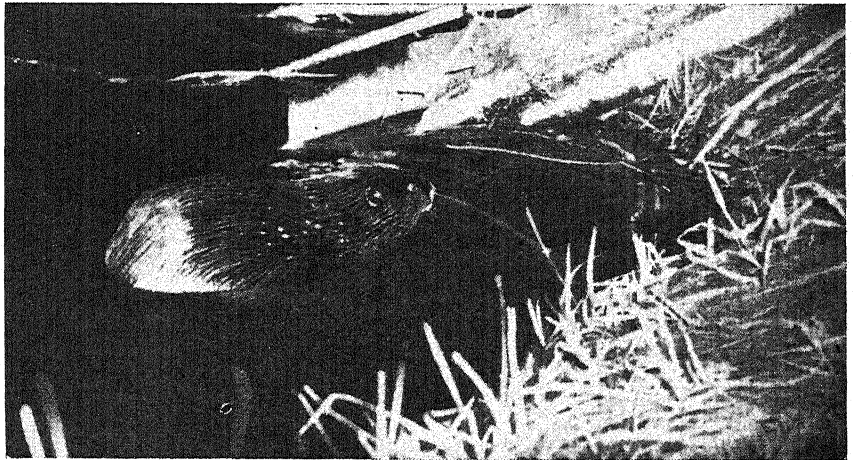
बीवर एक अनोखा जन्तु है। यह बुद्धि और सहयोग से बड़े कठिन कार्य करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। यह अपना घर पानी के भीतर लकड़ी और पेड़ काटकर बनाता है। नदी या तालाब के पानी को बाँधकर (दे० नीचे की तस्वीर) यह किस प्रकार घर के चारों ओर पानी की सतह को ऊँचा रखता है, इसका मनोरंजक विवरण प्रस्तुत लेख में देखिए।
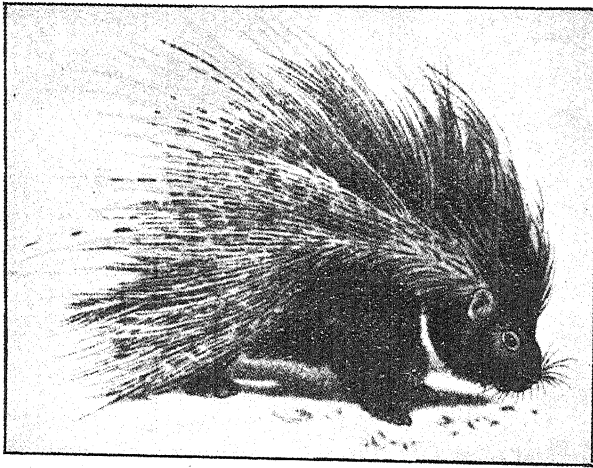
कुतरनेवाले जीवों में सेही कदाचित् सबसे विचित्र और पृथक् जीव है। मूर्ख और आलसी होने पर भी इसको आक्रमण का भय बिलकुल ही नहीं होता; क्योंकि इसकी सारी पीठ और दुम पर लम्बे, कड़े और फँसनेवाले काँटे होते हैं। खटका या आहट होने पर ये काँटे बिलकुल सीधे खड़े हो जाते हैं। शत्रु के बिलकुल समीप आ जाने पर सेही अपनी दुम को ऐसा झटका देता है कि काँटे शत्रु के मुँह पर चुभ जाते हैं। काँटे अपने आँकड़ों के कारण शत्रु के मांस में ऐसे गड़ जाते हैं कि उनका निकलना बड़ा ही दुष्कर कार्य हो जाता है। सेही जब बाहर चलता है तो उसके काँटे खड़खड़ाते जाते हैं, मानों वह अपने आस-पास के जीवों को अपनी भयंकर उपस्थिति की सूचना देता जा रहा हो।

गुम्बद के ऊपर से वर्षा का एक बूँद भी जल अन्दर नहीं जा पाता। घर तो उसका पानी की सतह के ऊपर रहता है, किन्तु बाहर जाने के लिए वह उसमें से एक द्वार इस तरीक़े से बनाता है कि वह सदा जल के भीतर डूबा रहे। इसी मार्ग से आवश्यकता पड़ने पर वह जल में शरण लेता है और भोजन-सामग्री घर में पहुँचाता है। पानी के भीतरवाले इस मार्ग की उपयुक्तता के लिए आवश्यक है कि उसके द्वार के सामने बराबर जल भरा रहे तथा जाड़े में जब बर्फ़ जमे तो जल इतना गहरा रहे कि बर्फ़ की तह द्वार तक पहुँचकर उसे बन्द न कर सके, साथ ही गर्मी में जल इतना कम न हो जाय कि द्वार खुल जाय।

बीवर की चतुराई इस बात से प्रकट होती है कि वह अपना घर बनाने के लिए ऐसी जगह ढूँढ़ता है जहाँ उक्त बातें सुलभ हों। किन्तु यदि उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिलता तो वह पानी को रोके रहने के लिए पहले से बाँध बना लेता है! बाँध तैयार हो जाने पर जब गहरा जल भर जाता है तब वह अपनी गृह-निर्माण-क्रिया आरम्भ करता है। मि० मौर्गन ने अमेरिका के बीवर के विषय में लिखा है—"बीवर के घर बनाने में सबसे मुख्य, बड़ा और मेहनत का काम बाँध बनाना ही है, जिसमें असीम परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होती है।" बाँध के बनाने में बीवर ऐसी चतुराई से काम लेता है जैसे वह इंजीनियरी की अच्छी-से-अच्छी रीतियों से परिचित हो। "नदी के प्रवाह की ओर बाँध का किनारा वह ढालू रखता है और दूसरी ओर का सीधा। पानी के ज़ोर को तोड़ने के लिए इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं। इससे भी अधिक जल-विज्ञान का ज्ञान इस बात से विदित होता है कि साधारण नदियों में बीवर बाँध को सीधी रेखा में बनाता है, किन्तु जब बाँध बहुत लम्बा या ऐसी जगह बनाना पड़े जहाँ ढाल के कारण जल का बहाव तेज़ हो तो बाँध में ऊपर की ओर थोड़ी-सी गोलाई दे देता है, जिससे बाँध दृढ़ बना रहता है और जल का ज़ोर टूट जाता है!" कभी-कभी बाँधों के पीछे काफ़ी बड़े तालाब और झीलें बन जाती हैं, जिनमें वे अपने गाँव बसाते हैं। वहीं तैरकर वे अपना भोजन भी सुगमतापूर्वक खोज लेते हैं। बाँध बनाने के लिए किनारे पर एक फुट से भी अधिक व्यास के पेड़ों को वह पिछली टाँगों पर खड़े होकर अपने तीक्ष्ण दाँतों से चारों ओर कुतर-कुतरकर गिरा डालता है। कहा जाता है कि बीवर इन पेड़ों को इस प्रकार कुतरते हैं कि वे जल ही में या जिस ओर वे चाहें उसी ओर गिरें! दो-तीन रातों ही के परिश्रम से एक जोड़ा बीवर छोटा-मोटा पेड़ गिरा डालता है। वृक्ष के गिर जाने पर वे उसके छोटे-छोटे टुकड़े काट लेते हैं।

यदि वृक्ष किनारे से दूर होते हैं तो बीवर और भी चमत्कार दिखाते हैं। वे दूर-दूर तक लम्बी नहरें खोद डालते हैं, और काटी हुई टहनियों को घसीटकर किनारे पर लाकर जल में गिरा देते हैं और उन्हें बहाकर उस स्थान तक पहुँचाते हैं जहाँ बाँध का निर्माण करना निश्चित किया रहता है! निश्चित स्थान पर पहुँचकर सैकड़ों बीवरों को इन लकड़ियों को चुनने, दबाने, खड़ा करने या एक दूसरे में फँसाने में बड़ी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। बिना किसी निर्देश के दल का प्रत्येक जन्तु कैसे अपना-अपना कर्त्तव्य

निभाता है यह हम नहीं जान सकते! पशु-बुद्धि के अनेकों आश्चर्यजनक कर्त्तव्यों में से एक यह भी है।

असली उड़नेवाले स्तनपोषी—चमगादड़

स्तनपोषी समुदाय में चमगादड़ ही ऐसे प्राणी हैं, जो पक्षियों के सदृश वास्तव में उड़ सकते हैं। प्रकृति ने उन्हें उड़ने के अवयव भी प्रदान किए हैं। वे पक्षी नहीं हैं, क्योंकि उनके मुँह में दाँत होते हैं, और उनमें बच्चों का पालन करने के लिए मादाओं के दो स्तन होते हैं। इनके उड़ने के अंगों में भी चिड़ियों की तरह पर नहीं होते। उड़ने के लिए इनके अगले अंग की चार उँगलियाँ छाते की तीलियों की तरह लम्बी हो गई हैं और शरीर के बगल से लेकर उनके छोर तक दोनों ओर वे पतली खाल या झिल्ली से मढ़ी रहती हैं। हाथों के अँगूठे छोटे होते हैं और उन पर झिल्ली नहीं होती। छोर पर पकड़ने के लिए नख होता है। टाँगों की उँगलियों में भी मज़बूत नाख़ून होते हैं, जिनके सहारे वे उल्टे लटक जाते हैं। लटकते समय या बैठने पर उड़नेवाली झिल्ली छाते की तरह बन्द होकर उनके शरीर के चारों ओर लिपट जाती है।
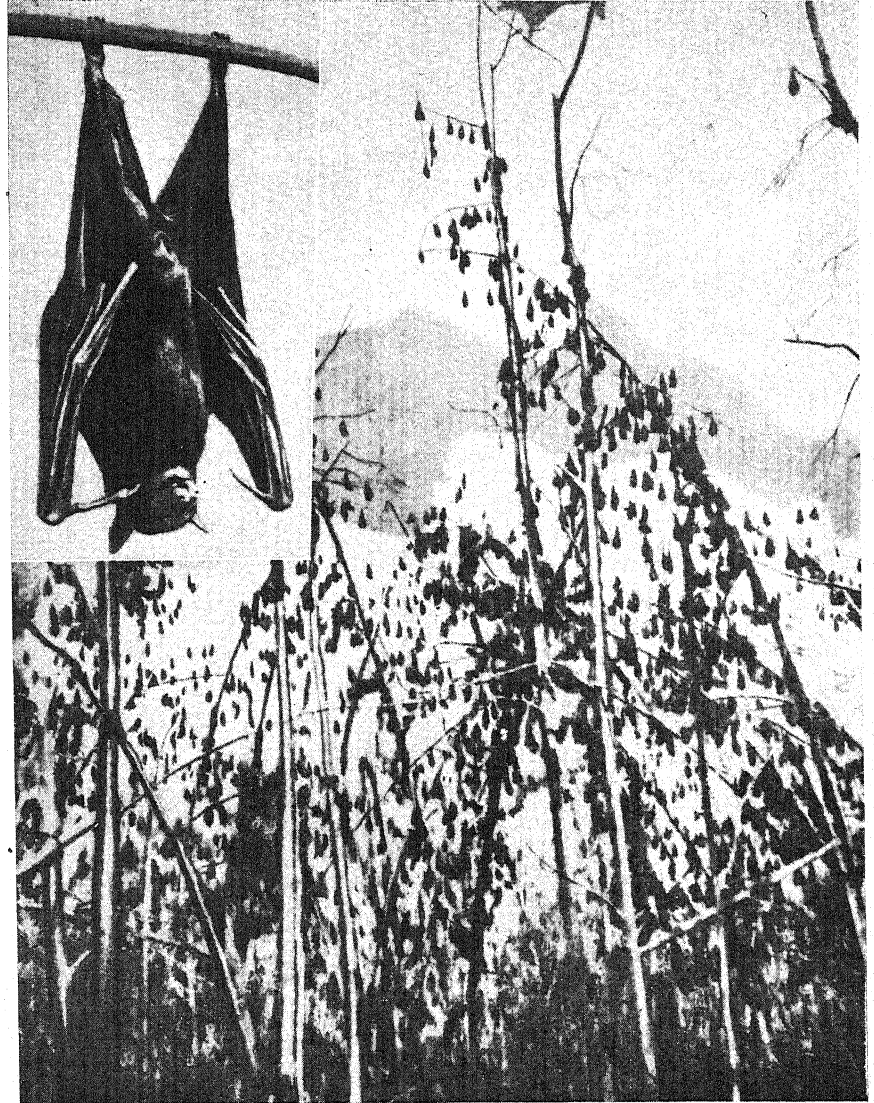
चमगादड़ यथासम्भव भूमि पर नहीं उतरता, क्योंकि ज़मीन पर बैठ जाने पर न तो वह ठीक से चल सकता है और न आसानी से उड़ सकता है। सभी जानते हैं कि वह

क्या आप पहचान सकते हैं कि इस पेड़ में क्या फला हुआ है?

यह दक्षिणी आस्ट्रेलिया में फलाहारी चमगादड़ या उड़नेवाली लोमड़ियों के एक डेरे का चित्र है, जिसमें सैकड़ों चमगादड़ फल की तरह लटकते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं! इस चित्र में केवल थोड़े ही से पेड़ नज़र आ रहे हैं। पूरा डेरा तो २५ एकड़ तक फैला हुआ है। कितने चमगादड़ इस एक जगह पर विश्राम करते होंगे, इसका अनुमान आप स्वयं कर लीजिए। सन्ध्या समय जब ये जगते हैं और भोजन की खोज में उड़ते हैं तो उनके झुंड के झुंड आसमान पर छा जाते हैं और उनके उड़ने की आवाज़ दूर-दूर तक सुनाई देती है।
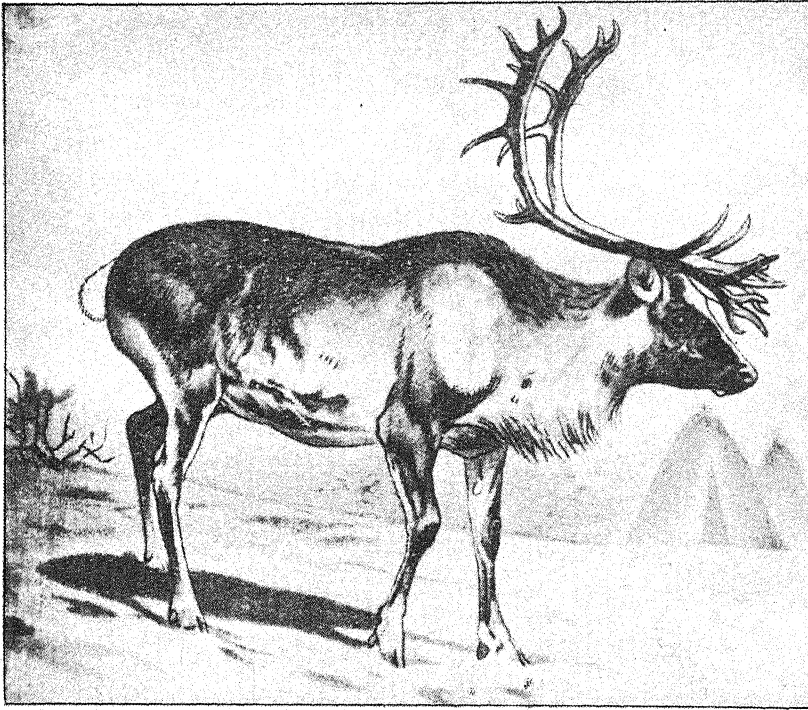
रेनडियर एस्किमों को मांस, दूध और खाल तो देता ही है, लेकिन इसके अलावा वह घोड़े की तरह बोझा ढोने का भी काम करता है। भारत में गाय, बैल और घोड़ा मिलकर जो काम करते हैं वे सब काम रेनडियर अकेला ही कर देता है। इसका क्षेत्र केवल उत्तरी ध्रुव प्रदेशों तक ही सीमित है और उस वनस्पति-हीन प्रदेश में केवल जमी हुई काई को ही खाकर यह अपनी गुज़र कर लेता है।

अंधेरे में ही निकलता है। जब अन्य साधारण पशु और पक्षी विश्राम करते हैं तब इसके जागरण का समय होता है। दिन भर वह अपना मुँह छिपाये किसी अन्धेरी गुफा या जन-शून्य गृह की छतों से या किसी पेड़ के खोखलों में अथवा घने वृक्षों की डालियों में उल्टा लटका रहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी आँखें इतनी निर्बल होती हैं कि सूर्य के प्रकाश में खुल ही नहीं सकतीं। चमगादड़ों की दो जातियाँ हैं—एक कीटभोजी और दूसरी फलाहारी। कीटभोजी साधारणतः छोटे होते हैं और पृथ्वी के प्रायः सभी भागों में पाये जाते हैं। उनकी लगभग ६०० उपजातियों का अब तक पता चला है। इनके कान बड़े होते हैं और कुछ जातियों में नथुनों के चारों ओर पत्ती के आकार की-सी झिल्ली लगी रहती है। यही झिल्ली उनकी घ्राण-शक्ति को विशेष रूप से तीक्ष्ण करती है। फलाहारी चमगादड़ बड़े होते हैं और पुरानी दुनिया के गर्म भागों में ही निवास करते हैं। इनका थूथन लोमड़ी के समान लम्बा होता है और इनके परों का फैलाव ५ फ़ीट तक पहुँच जाता है। इनके कान बहुत छोटे होते हैं और दुम भी बहुत छोटी-सी होती है या होती ही नहीं। वे झुंड में रहते हैं और दिन भर पेड़ों में ही उल्टे लटके रहते हैं।

ये अधिकतर एक ही वंश में सम्मिलित किए जाते हैं और उन्हें लोग अक्सर उड़नेवाली लोमड़ी भी कहते हैं। भारत, ब्रह्मा और लंका में टीरोपस जाति का जो चमगादड़ पाया जाता है उसे उत्तरी भारत में बादून और दक्षिणी भारत में गदल कहते हैं।

शाकाहारी खुरवाले स्तनपोषी—अंगुलेटा

इन स्तनपोषियों का मुख्य लक्षण यह है कि इनकी उँगलियाँ खुर से मढ़ी होती हैं या खुर-जैसे नखों से सुरक्षित रहती हैं। इनमें पेड़ पर चढ़नेवाले हाइरेक्स (Hyrax) के सिवाय शेष सब स्थल वासी हैं और एक जगह से भाग या चलकर दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। खुरवाले सभी जीव शाकाहारी होते हैं। पहले हाइरेक्स और हाथी इस खुर-वाली श्रेणी से अलग गिने जाते थे, किन्तु अब वे भी इसी कक्षा में सम्मिलित कर लिये गए हैं। अतः इस कक्षा के जीव इस प्रकार चार उपकक्षाओं में विभाजित किये जाते हैं:—

(१) **सम उँगलियोंवाले** (Artiodactyla)—इनमें गाय-बैल-भैंस आदि ढोर, भेड़-बकरी, हिरन, चिकारा, नील-गाय, शैमोआ, लामा, ऊँट, जिराफ़, सुअर और दरियाई घोड़ा आदि शामिल हैं।

(२) **विषम उँगलियोंवाले** (Perissodactyla)—जैसे घोड़ा, गधा, ज़ेबरा, टेपीर और गैंडा।

(३) हाइरेक्स या डस्सी (Hyracoidea)—जो सिर्फ़ अफ्रीका में ही पाये जाते हैं और अपने क़द तथा शक्ल में कुतरनेवाले जीवों से मिलते हैं, किन्तु जिनके दाँत और मस्तिष्क विषम उँगलियोंवाले जीवों से मिलते हैं। ये जीव हाथी और गैंडे के बीच के समझे जाते हैं। स्थानाभाव के कारण इनका इससे अधिक हाल हम यहाँ देने में असमर्थ हैं।

(४) सूँड़वाले हाथी (Proboscidea)।

मनुष्य और पालतू खुरवाले जन्तुओं का सम्बन्ध—ये हमारे लिए सारे जन्तु-जगत् में सबसे लाभदायक हैं। हमारी कड़ी मेहनत में ये हिस्सा बाँट लेते हैं और हमें इनसे ही भोजन और दस्तकारी की सामग्री प्राप्त होती है। जब से मनुष्य ने आधुनिक रीति से खेती करना सीखा तभी से उसने बैल, भैंसों, घोड़ों और खच्चरों से अपने हल चलवाए, उन्हें गाड़ी में भी जोता और उनसे बोझा भी ढुलवाया। घरेलू जानवरों में ढोरों ही ने मनुष्य के व्यापारिक उद्योगों पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। उनका मांस और मांस से बनी हुई वस्तुएँ सर्वोत्तम मानी गईं। ये अन्य जानवरों से दूध, दही, मक्खन, घी और पनीर बहुत ज़्यादा देते हैं। इनकी मज़बूत खालों से उम्दा चमड़ा मिलता है, साथ ही इनकी मेहनत मनुष्य का काम हलका बना देती है।

भोजन-सामग्री देनेवाले जीव—दूध और उसकी बनी हुई चीज़ें जगत् के सभी भागों में मानव-आहार का प्रधान अंग हैं। गौमाता ही दूध देनेवाले पशुओं में सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन बकरी, लामा, ऊँट और उत्तरी बारहसिंघों (रेनडियर) का दूध भी अन्य देशों में यथेष्ट परिमाण में काम में लाया जाता है। मनुष्य के सब भोजनों में दूध ही ऐसी चीज़ है, जो अकेला ही उसके जीवन को क़ायम रख सकता है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था से ही हम उसका सेवन कर सकते हैं। प्रकृति का प्रबन्ध ऐसा अच्छा है कि पृथ्वी के प्रत्येक भाग में कोई-न-कोई दूध देनेवाला जानवर ज़रूर मिलता है। पहाड़ों पर बसनेवालों को भेड़ और बकरी, मैदान में रहनेवालों को गाय, रेगिस्तान के लोगों को ऊँट और अत्यन्त ठंडे बर्फ़ीले प्रदेशों के निवासियों को रेनडियर से दूध मिलता है।

दूध-दही के लिए तो हम भारतवासी गाय-भैंसों को पालते ही हैं, किन्तु कदाचित् आपको इस बात का अनुमान न होगा
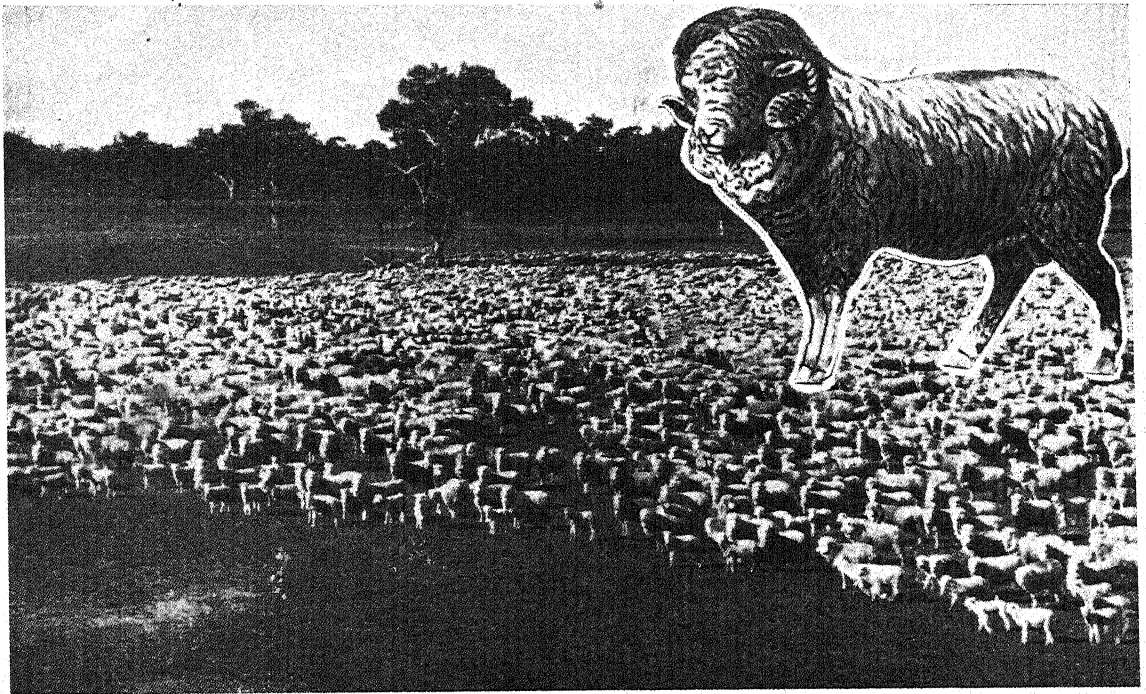
आस्ट्रेलिया की जगत्-विख्यात् मेरीनो नामक भेड़ और उसका झुंड
यह अपने ऊन के ही कारण बहुत क़ीमती समझी जाती है।

कि मांस के लिए भी जानवर कितनी बड़ी संख्या में पाले जाते हैं। सम उँगलियोंवाले पशुओं से दुनिया के गोश्त की माँग का सबसे बड़ा हिस्सा पूरा होता है। भेड़-बकरी के अलावा गाय और सुअर ही मांस देनेवाले मुख्य जानवर हैं। संयुक्त-राज्य अमेरिका में हिसाब लगाया गया है कि हर साल २० करोड़ से अधिक मवेशी, १ करोड़ ५० लाख से अधिक भेड़ें और बकरियाँ, और ८ करोड़ से भी अधिक सुअर वहाँ मारे जाते हैं! संसार में सबसे अधिक मवेशी हिन्दुस्तान, संयुक्त-राज्य अमेरिका, आर्जेन्टाइन, रूस और ब्राज़ील में पाये जाते हैं। वे देश, जहाँ भेड़ें अधिक मिलती हैं, संयुक्त-राज्य अमेरिका, ब्राज़ील, जर्मनी और आस्ट्रेलिया हैं। सुअर पालनेवाले देशों में सबसे आगे आस्ट्रेलिया, रूस, संयुक्त-राज्य अमेरिका, आर्जेन्टाइन और दक्षिणी अफ्रीका का स्थान है। इनके अलावा और भी खुरवाले पशु भिन्न-भिन्न देशों में पाये जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका में ऊँट के छोटे भाई-बन्धु लामा और अलपका का गोश्त भी खाया जाता है। उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों के निवासी रेनडियर का ही मांस खा लेते हैं। रेनडियर पहले अलास्का में नहीं पाया जाता था। संयुक्त-राज्य अमेरिका की सरकार ने एस्किमो लोगों के फ़ायदे के लिए सन् १८७६ में साइबीरिया से ५०० रेनडियर ले जाकर वहाँ छुड़वा दिये थे। उनकी संख्या वहाँ अब १ लाख से भी अधिक हो गई है और अब वे उस देश के ही लिए नहीं बल्कि और देशों के लिए भी मांस भेजते हैं। योरप और आस्ट्रेलिया में ख़रगोश भी अब मांस देनेवालों में से एक मुख्य जीव है।

प्रागैतिहासिक मनुष्य जंगली घोड़ों का शिकार किया करता था, क्योंकि जंगली घोड़े का मांस ही उसका मुख्य आहार था। पाषाण-काल के मनुष्यों की एक गुफा के द्वार के सामने क़रीब १ लाख ऐसे ही जंगली घोड़ों की हड्डियाँ मिली हैं। दो दीवाल की शक्ल के ढेर लगे हुए थे, जिनमें से एक १५० फ़ीट लम्बा और १० फ़ीट ऊँचा था तथा दूसरा ४० फ़ीट लम्बा और १० फ़ीट ऊँचा था!

खाल, ऊन और बाल देनेवाले जानवर—बहुत दिनों से मनुष्य जानवरों की खालों का प्रयोग करता आया है। मनुष्य ने अपना शरीर ढँकने के लिए सबसे पहले खाल को ही पहना था। आजकल जो जानवर मांस के लिए मारे जाते हैं, उन्हीं की खालें विशेष रूप से काम में लाई जाती हैं। उन जंगली या घरेलू जानवरों की खालों का भी प्रयोग किया जाता है जो खाये नहीं जाते। कमाने और साफ़ किये जाने के बाद खालों से वस्त्र, जूते, ज़ीन, साज़, पेटियाँ, किताबों की जिल्द, सूटकेस तथा सैकड़ों ही और चीज़ें बनाई जाती हैं। मनुष्य ने खाल पाने के लिए कितना अत्याचार किया है, इसका एक ही उदाहरण यहाँ सुन लीजिए। अमेरिका में गृह-युद्ध के पश्चात् जब 'यूनियन पैसेफ़िक रेलरोड' बन गई और सभ्य गोरी चमड़ीवाले भीतरी मैदानों में सुविधापूर्वक जाने लगे तो वहाँ अधिकता से मिलनेवाले बिसन नामक भैंसे का उन्होंने इस निर्दयता से शिकार किया कि १५ वर्ष के अन्दर उस 'रेलरोड' के दोनों ओर दूर तक बिसन का नाम भी न रहा! लिखा हुआ है कि सन् १८७६ में केवल फ़ोर्ट बेन्टन के बन्दरगाह से ८० हज़ार खालें बाहर भेजी गई थीं! उनकी संख्या उस समय से लगातार कम होती गई, यहाँ तक कि १८८४ में एक भी खाल बाहर नहीं भेजी जा सकी।

जानवरों के बालों से भी हमारे कई काम निकलते हैं। मोटे बाल पलँग और कुर्सियों के गद्दों और गद्दियों में भरे जाते हैं। उन्हें जमाकर नमदे बनाये जाते हैं और बड़े बड़े क़ीमती क़ालीन भी उन्हीं से तैयार किए जाते हैं। नर्म बाल से (जिसे ऊन कहते हैं) कपड़े बनते हैं। ऊनी कपड़े मज़बूत तो होते ही हैं, इसके अलावा वे हमको सर्दी और पानी से भी बचाते हैं। भेड़ की ऊन सर्वोत्तम तथा सबसे उपयोगी है। इसके अलावा बकरा, अलपका और ऊँट से भी ऊन मिलती है। कुछ जातियों की घरेलू बकरियाँ दूध देने के लिए पाली जाती हैं और कुछ अपनी नर्म ऊन के लिए ही। काश्मीर और अंगोरा के बकरे अपनी ऊन के लिए बहुत क़ीमती समझे जाते हैं। जगत्-विख्यात् काश्मीरी दुशाले और सर्वोत्तम पश्मीने इन्हीं के नर्म ऊन से ही बनते हैं।

मांस, खाल और बाल के अलावा इन जीवों की हड्डी, सींग, खुर और आँतों से भी हमारी कई काम की वस्तुएँ तैयार होती हैं। हड्डियों का आटा खेतों को अधिक उपजाऊ बनाने के काम आता है। सींग और खुर से सरेस, ग्लू और जिलेटिन बनती हैं। सींग से खिलौने, क़लम, छड़ी, डिब्बियाँ आदि और भी बहुत-सी चीज़ें बनाई जाती हैं। हमारे देश में कटक सींग की वस्तुएँ बनाने के लिए मशहूर है। भेड़ की आँतों से उम्दा क़िस्म की ताँत तैयार की जाती है, जो टेनिस के बल्लों में लगाई जाती है।

बोझा ढोनेवाले जन्तु—इनमें सबसे पहला स्थान घोड़ों का है, जो सूखी ज़मीन पर तेज़ भागने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। अब जंगली घोड़े बहुत ही कम देशों में पाये जाते हैं। कहा जाता है कि पहले-पहल एशिया में ही

लकड़ियों के लट्ठे उठाते हुए कुछ हाथी। हाथी अपने अतुलित बल के कारण ही बहुत-से भारी-भारी काम कर दिखाता है।

घोड़े पालतू बनाए गए थे। उनकी अब ५० से भी अधिक नस्लें हैं। टट्टू हल्के कार्यों या बच्चों की सवारी के उपयुक्त है। तेज़ दौड़नेवाले घोड़ों की नस्लें और बोझ ढोने या गाड़ी खींचनेवाले घोड़ों की नस्लें अलग-अलग हैं।

गधे एशिया और अफ्रीका में ही मिलते हैं और ज़्यादातर वे ख़ुश्क जगहों या रेगिस्तानों में ही प्रसन्न रहते हैं। घोड़ों की अपेक्षा वे अधिक सहनशील होते हैं तथा घोड़े से बहुत कम ख़ुराक पानी पर ही निर्वाह कर लेते हैं। धोबी के लिए गधा कितने महत्त्व की वस्तु है यह सभी जानते हैं!

खच्चर एक दोग़ला जानवर है, जो घोड़े और गधे के मेल का फल है! वह घोड़े के बराबर तेज़ तो नहीं होता परन्तु अपने पैरों का बड़ा पक्का होता है। इसीलिए वह पहाड़ों पर चढ़ने के लिए अधिक काम का है। दुनिया के गर्म प्रदेशों में वह बोझा ढोने का बहुत काम करता है।

हाथी से राजा-महाराजाओं की सवारी और शोभा के अतिरिक्त भारी चीज़ों को ढोने का काम भी कराया जाता है। उसकी महान् शक्ति और सूँड़ दोनों ही उसकी मुख्य पूँजियाँ हैं, जिनकी सहायता से वह हमारे लिए वनों में पेड़ उखाड़ता है और भारी-भारी लट्ठे एक जगह से दूसरी जगह ले जाता है। हाथी का विशेष हाल हम बाद में लिखेंगे।

ऊँट एशिया और अफ्रीका के रेगिस्तानों में घोड़े का ही प्रयोजन सिद्ध करता है। प्रकृति ने उसे बालुकामय प्रदेशों के ही बिलकुल उपयुक्त बनाया है। उसके पैर ढीले, चौड़े और गुदगुदे होने के कारण नर्म बालू में गहरे नहीं धँसते। उसके नथुनों पर लटकनेवाला मांस आँधी या तूफ़ान से उड़नेवाली बालू को नाक में नहीं घुसने देता। उसके आमाशय में पानी भरने के लिए कई कोठरियाँ होती हैं, जिनमें वह कई दिनों के लिए पानी भर लेता है। इन कोठरियों के मुँह संकोचनीय पेशियों से बन्द रहते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें से पेट में पानी जाता रहता है। इसीलिए ऊँट बिना पानी पिए ही लम्बी-लम्बी यात्राएँ करने में अपना सानी नहीं रखता। 'रेगिस्तानी जहाज़' सचमुच ही में उसका उपयुक्त नाम है। ऊँट की दो क़िस्में हैं—एक दो कूबड़वाली और दूसरी एक कूबड़वाली।

इनके अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका के एंडीज़ नामक पहाड़ों पर लामा, अलपका, विकूना इत्यादि; ध्रुव प्रदेशों—लैपलैंड, फ़िनलैंड, नार्वे, साइबीरिया—में रेनडियर; तिब्बत के ऊँचे पठारों में याक; तथा हिन्दोस्तान में भैंसा और बैल बोझा ढोने व गाड़ी खींचने के लिए पाले जाते हैं। रेनडियर नर्म बर्फ़ पर काफ़ी तेज़ चाल से जा सकता है और कड़ी-से-कड़ी ठंडक भी सह लेता है। बैल दलदलों और कच्चे रास्तों में—जहाँ घोड़े अटक जाते हैं—अपने फैलनेवाले खुरों के ही कारण बड़ी आसानी से चले जाते हैं। भैंसे उनसे भी अधिक दलदली जगह के लिए उपयोगी हैं। चावल के खेतों में कार्य करना उन्हें विशेष रूप से रुचिकर है।

स्थानाभाव के कारण अब और खुरवालों का वर्णन करने में हम असमर्थ हैं, किन्तु इस कक्षा के दो-चार जीवों—हाथी, दरियाई घोड़ा आदि—का हाल हम "जन्तु-जगत् के विशालकाय प्राणी" शीर्षक लेख में आगे लिखेंगे। कुछ अन्य स्तनपोषी भी—मांसाहारी और जलवासी—अभी बाक़ी रह गए हैं। उनका हाल भी आगे पढ़ियेगा।

'रेगिस्तान के जहाज़ों' का एक बेड़ा

यदि ऊँट न हो तो रेगिस्तान की बालू से पार पाना मनुष्य के लिए कठिन हो जाय। प्रकृति ने इस जानवर को ऐसा बनाया है कि हर तरह से यह रेगिस्तान के अनुकूल है। ऊपर के चित्र में मरुभूमि की मंज़िल तय करते असबाब से लदे हुए ऊँटों का एक कारवाँ दिखाई दे रहा है।
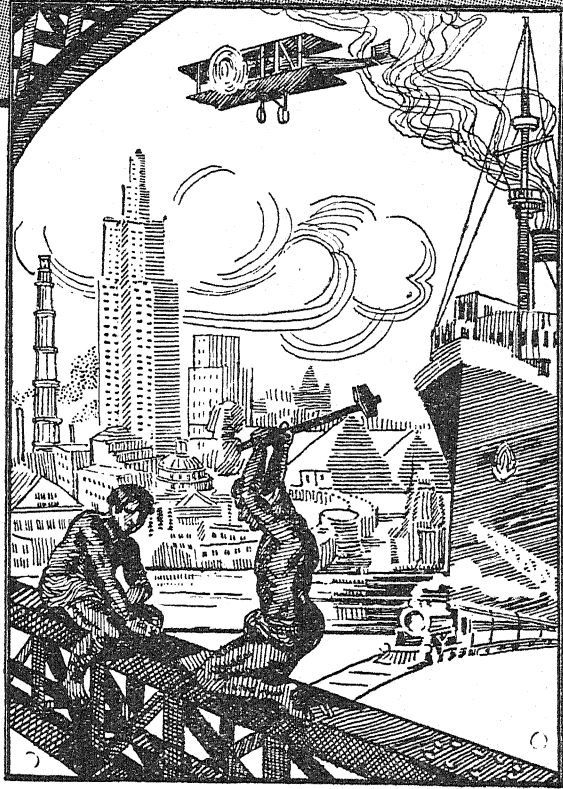
मनुष्य की कहानी

(बाईं ओर)

घ्राणेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय की यंत्र-रचना

देखिए, किस प्रकार पुष्प की सुगन्ध नाक में होकर गन्ध-बोधक कोषों को प्रभावित करके मस्तिष्क तक पहुँचती है। नीचे की ओर दो गन्ध-कोष और एक सहायक कोष दिखलाए गए हैं। जीभ पर चार प्रकार के स्वादों—मीठे, खट्टे, नमकीन और कड़वे—के स्थान अलग-अलग होते हैं। ये स्थान इस चित्र में भली-भाँति स्पष्ट है। एक ओर को एक स्वादकली के कोष भी बने हुए हैं। १. फूल के गन्धकण नाक में घुसकर २. घ्राण-नाड़ी के छोरों को उत्तेजित करते हैं ३. जिसका ज्ञान-सूत्रों द्वारा मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्र को होता है; ४. मिठाई पहचानने के दाने; ५. नमक और खटाई पहचानने के दाने; ६. कड़वाहट बतलानेवाले दाने; ७. स्वाद-नाड़ी जीभ पर उभरे हुए दानों के स्वाद-कोषों से स्वाद का ज्ञान मस्तिष्क के स्वाद-केन्द्र तक पहुँचाती है; ८. स्वाद-केन्द्र।
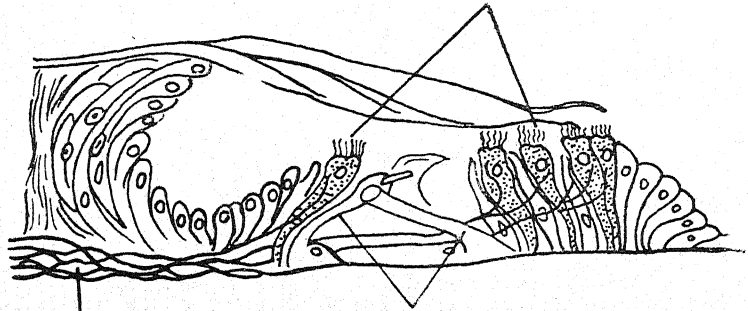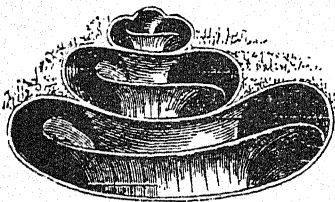
बीच से कटा हुआ कौक्लिया और 'कौर्टी के अंग' के कोष

(अ) कौक्लिया के बीच का हड्डीदार स्तम्भ और उसके चारों ओर गोल घुमाऊ ज़ीने की तरह कोठरियाँ। (ब) कुछ ऐसे सांवेदनिक कोष जो ऊपर से कौर्टी की मेहराबों को ढके रहते हैं। (दे० पृ० १२७७ का मैटर)
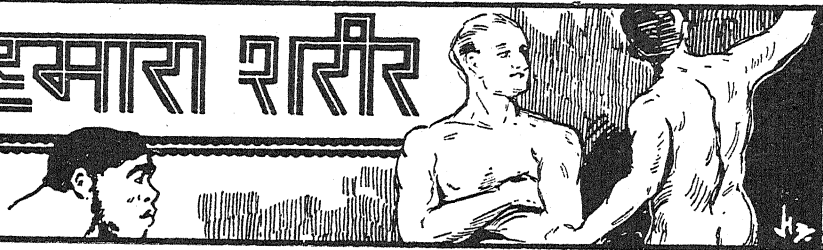
हमारे शरीर के द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ

२—श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय

पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से दो—स्पर्शेन्द्रिय तथा दृष्टि-इन्द्रिय—का हाल तो आप पहले ही पढ़ चुके हैं। यहाँ अब हम शेष तीन—सुनने, सूँघने और स्वाद लेनेवाली इन्द्रियों का वर्णन विस्तारपूर्वक करेंगे।

१. श्रवणेन्द्रिय या कान तथा उसकी रचना

दस में से नौ आदमी ऐसे होंगे, जिनका ध्यान 'कान' शब्द को सुनकर सिर के दोनों ओर निकले हुए सीप की शक्लवाले भाग की ओर जाता है, किन्तु वास्तव में असली कान तो भीतर खोपड़ी की हड्डियों में भली भाँति सुरक्षित हैं। यह बाहरी हिस्सा तो, जिसको हम साधारणतया 'कान' कहते हैं, केवल ध्वनि-लहरों को एकत्रित करके अन्दर भेजने का ही एक साधन मात्र है। नेत्रों की भाँति कान में भी कुछ आवश्यक तथा कुछ सहायक अंग होते हैं। श्रवणेन्द्रिय का मुख्य भाग इतना भीतर है कि ध्वनि सीधी उस तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए बाहरी आवाज़ों को एकत्रित करने और उनको इस भीतरी पेचीदा भाग तक पहुँचाने के लिए अन्य सहायक अंगों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसलिए कान में एक वह भाग है जो ध्वनि-लहरों को भीतर पहुँचाता है तथा दूसरा वह जो उन लहरों को स्नायविक प्रेरणा में बदलकर मस्तिष्क तक पहुँचाता है। पिछले भाग को 'भीतरी कान' और अगले को 'बाहरी कान' कहा जाता है; किन्तु इन दोनों के बीच में छोटा-सा एक भाग और होता है जो 'माध्यमिक कान' कहलाता है। इस तरह साधारणतया कान का विभाजन तीन भागों में किया जाता है:—(१) **बाह्य कान**, (२) **मध्य कान**, (३) **आन्तरिक कान**।

(१) **बाह्य कान**—बाहरी कान का वह भाग, जो सिर के दोनों ओर निकला हुआ है, मनुष्य के अतिरिक्त और भी स्तनधारियों में पाया जाता है। यह किसी में छोटा, किसी में बड़ा, किसी में ऊपर को खड़ा हुआ, किसी में नीचे को लटकता हुआ रहता है। छछूँदर-जैसे कुछ बिल-वासियों में तथा सूँस की तरह के कुछ जल-जन्तुओं में कान का यह भाग होता ही नहीं है। इसकी टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल बिलकुल ही अर्थ-हीन नहीं है। यह ऐसा बना है कि उस पर पड़नेवाली आवाज़ की लहरें मुड़कर ठीक भीतरी राह की ओर चली जायँ। इस बाहरी भाग को 'कान की तुरही' भी कहते हैं। इसके बीच में से जो रास्ता भीतर को जाता दिखाई देता है वह टेढ़ा-मेढ़ा तथा लगभग १। इंच लम्बा होता है। इस नली या रास्ते में बाहरी ओर महीन-महीन बाल होते हैं जो कान के अन्दर धूल-गर्द और कीड़े-मकोड़ों के जाने में बाधा डालते हैं। किन्तु नली के भीतरी भाग में बालों के अतिरिक्त खाल में स्वेद-गुत्थियों की-सी बहुत-सी गुत्थियाँ होती हैं, जिनमें से मोम की तरह का एक पीला द्रव्य निकलता रहता है। इस द्रव्य के कारण नली नम और साफ़ रहती है और यही कान का मैल कहलाता है। जब कान में सर्दी लग जाने से या किसी अन्य कारणवश यह पीला द्रव्य अधिक बनने लगता है और इतनी मात्रा में इकट्ठा हो जाता है कि जिससे रास्ते में रुकावट हो जाती है और हम ऊँचा सुनने लगते है। बहरेपन का एक आम कारण यह भी है।

इस नली का भीतरी छोर एक पतली-सी झिल्ली से बन्द रहता है, जिसके उस पार मध्य कान की छोटी कोठरी होती है। इस तनी हुई झिल्ली पर जब हवा की लहरें आकर टकराती हैं तो वे लहराने लगती हैं। कान में मैल ज़्यादा जमा हो जाने या नहाते समय कान में पानी चले जाने से इस झिल्ली तक लहर का पहुँचना दुर्लभ हो जाता है और तब हमको ठीक से सुनाई नहीं पड़ता। यह तनी हुई झिल्ली ही हमारे कान का नगाड़ा है, जो हवा की

लहरें पड़ने से बज उठता है और थरथराकर लहरों का प्रभाव मध्य और आन्तरिक कान के भागों पर डालता है। इसी झिल्लीको 'कान का पर्दा' या 'कर्णपटह' कहते हैं।

(२) **मध्य कान**—कान के पर्दे के पीछे मध्य कान की छोटी-सी कोठरी है, जो कनपुटी की हड्डी के भीतर ही रहती है। इस कोठरी की ऊँचाई लगभग १/२ इंच होती है और चौड़ाई एक से दो सूत तक। इसकी भीतरी दीवाल में दो छिद्र होते हैं—एक अंडाकार और दूसरा गोलाकार। इनके बाद अन्तरीय कर्ण का प्रारम्भ होता है। गोल छेद के ऊपर एक कड़ी झिल्ली मढ़ी रहती है और अंडाकार छिद्र में एक हड्डी लगी रहती है। इनको और बाहरी पर्दे को छोड़कर शेष दीवालें और छत तथा फ़र्श सभी कनपुटी की हड्डियों से बनते हैं। कोठरी भर में हड्डियों के ऊपर एक पतली श्लैष्मिक झिल्ली चढ़ी रहती है जैसी नाक, मुँह और हलक़ में भी होती है। कर्णपटह से लेकर भीतरी दीवाल तक फैली हुई मध्य कान में छोटी-छोटी तीन हड्डियों की एक जंज़ीर होती है, जिसके सहारे पर्दे पर टकरानेवाली आवाज़ की लहरें भीतरी कान तक पहुँचती हैं। इनमें से पहली को, जो कर्णपटह के जालदार रेशों से अच्छी तरह गुथी रहती है, 'मुद्गर' कहते हैं; क्योंकि उसकी शक्ल हथौड़ी से मिलती-जुलती होती है। बीच की हड्डी 'निहाई' और सबसे भीतरी 'रक़ाब' कहलाती है। मुद्गर का लम्बा डंडा कर्ण-पटह की भीतरी तह से लगा रहता है। उसका ऊपर का नोकदार भाग मध्य कान की कोठरी के हड्डीदार भाग से चिपटा रहता है और उसका गोल सिर निहाई के एक छोटे-से गड्ढे में लगा रहता है। उसी में वह घूम-फिर भी लेता है। निहाई की नोक रक़ाब के ऊपरी हिस्से से लगी रहती है, किन्तु उसका मुख्य भाग अथवा पायदानवाली तख़्ती मध्य कान के अंडाकार छेद में झिल्ली द्वारा फँसी रहती है। ये तीनों हड्डियाँ आपस में बन्धनों द्वारा बँधी होती हैं और उनके बीच हिलने-घूमनेवाले जोड़ होते हैं। यही हड्डियाँ बाहरी कान के पर्दे को भीतरी कान से मिलाती हैं।

मध्य कान की कोठरी हवा से भरी होती है। सामने-वाली दीवाल में कंठ-कर्ण-नली का मुँह होता है, जिससे उसका सम्बन्ध कंठ से हो जाता है। इसी राह से हवा कंठ से होकर मध्य कान में पहुँचती है और कान के पर्दे के दोनों तरफ़ अपना दबाव भी बराबर रखती है। कंठ-कर्ण-नली आम तौर से बन्द रहती है, लेकिन जब हम कोई चीज़ निग-लते हैं तो वह खुल जाती है। यदि आप नथुनों को ज़ोर से बन्द कर लें और निगलने की क्रिया करने लगें तो दोनों कानों के पर्दों पर एक अजीब तरह का दबाव-सा जान पड़ेगा। कान भरे-भरे लगने लगेंगे और आपको साफ़ सुनाई भी न पड़ेगा। नथुने खोलने पर और फिर निगलने पर कान का दबाव और भारीपन ग़ायब हो जाता है। इसका कारण यह है कि निगलने की क्रिया से कंठ में हवा का दबाव बढ़ जाता है, लेकिन नथुने बन्द रहने की वजह से यह हवा नाक से बाहर नहीं जा पाती और कंठ-कर्ण-प्रणाली में से झपटती हुई मध्य कान में जा पहुँचती है और पर्दे को फुला देती है, जिससे हमें भारीपन और दबाव मालूम पड़ने लगता है। ज्योंही हम निगल चुकते हैं, कंठ-कर्ण-प्रणाली पुनः बन्द हो जाती है और हवा कान में बन्द हो जाती है। जब फिर निगलते हैं और नथुने बन्द नहीं होते तो प्रणाली खुल जाती है और कारागार में बन्द की हुई हवा मुक्त हो जाती है। मध्य कान से एक और तंग और छोटी नली उसकी पिछली दीवाल में होकर एक और टेढ़ी-मेढ़ी कोठरी में जाती है, जो कान के पीछे की उभरी हुई हड्डी में होती है। इस कोठरी में तथा इसके आस-पास के हड्डी-कोषों में भी हवा भरी होती है।

(३) **आन्तरिक कान**—आन्तरिक कान में भी तीन भाग होते हैं। 'कौक्लिया' या सुननेवाला भाग सामने की ओर होता है। अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ, जो शरीर को साधे रहने में सहयोग देती हैं, उसके पीछे स्थित रहती हैं और इन दोनों भागों के बीच में और पीछे थैले की तरह की 'कर्णकुटी' होती है। पहले दोनों भागों को मिलाकर भीतरी कान की घूम-घुमैया या 'झिल्लीकृत भँवर' कहते हैं। ये सब भाग खोपड़ी की हड्डियों के अन्दर सुरक्षित रहते हैं। इन भागों की पेचीदा रचना को समझने के लिए लेख के साथ दिए हुए चित्रों को ध्यान से देखिए। दाहिने आन्तरिक कान का चित्र पृ० १५७७ पर दिया हुआ है। इसके बीच में जो अंडाकार खिड़की-सी दिखलाई पड़ती है उसी में मध्य कान की रक़ाबवाली हड्डी और झिल्ली लगी रहती है। यही खिड़की या छेद कर्णकुटी की छोटी सी, लगभग १/[illegible] इंच की, कोठरी में चला जाता है। कर्णकुटी के सामने अगले भाग से घड़ी की कमानी की तरह २½ चक्र लगाते हुए कौक्लिया नज़र आ रही है। कौक्लिया का घुमाव और रचना बहुत कुछ घोंघे के छिलके की तरह ही है। देखिए, कर्णकुटी के पिछले भाग से तीन अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ लगी हुई हैं। प्रत्येक नली के सिरे थोड़े-बहुत फूले हुए हैं। इनमें से एक नली आगे की ओर ऊपर सीध बाँधे रहती है, दूसरी पीछे की ओर, और तीसरी बाहर की ओर

आकाश के समानान्तर स्थित रहती है। इनकी बनावट की यही सुन्दरता है कि वे एक दूसरे के ऊपर लम्बवत् (perpendicular) खड़ी रहती हैं। अगली और पिछली नलियों का एक सिरा परस्पर एक दूसरे से जुड़ा रहता है। इसलिए तीनों नलिकाओं और कर्णकुटी के बीच में पाँच सूराख़ होते हैं। ऊपर बताए हुए छिद्रों को छोड़कर कर्णकुटी की दीवाल में नन्हें-नन्हें और भी छेद होते हैं, जिनसे श्रवण-स्नायु की शाखायें भीतर घुसती हैं। ये सब भाग अन्दर ही अन्दर एक दूसरे से मिले रहते हैं और इनमें एक प्रकार का सफ़ेद दूध का-सा तरल द्रव्य भरा

कान के तीन भाग और उनके चारों ओर के अंग

बाहरी कान और उसके बीच के सूराख़ में कहीं हड्डी है और कहीं चबनी। बाहरी और मध्य कान के बीच में एक झिल्ली का पर्दा होता है। मध्य कान की संकीर्ण कोठरी में छोटी-छोटी तीन हड्डियों की ज़ंजीरें होती हैं जो एक ओर इस पर्दे से लगी रहती हैं और दूसरी ओर भीतरी कान की घूमघुमैया को घेरनेवाली हड्डी की खिड़की में जुड़ी रहती है। मध्य कान को कंठ से सम्बन्धित करनेवाली कंठ-कर्ण-नाली भी चित्र में दिखलाई पड़ रही है।

रहता है, जिसे आन्तरिक लसीका (Endolymph) कहते हैं। इस रस में खटिक कार्बोनेट के नन्हें-नन्हें कण मौजूद रहते हैं। कर्णकुटी तथा झिल्ली की नलिकाओं के भीतरी पर्त के कोषों से अन्दर की ओर महीन-महीन बाल-से निकले रहते हैं। धारणा की जाती है कि अन्दर आनेवाली श्रवण-स्नायु के नन्हें छोर इन बालों में लगे रहते हैं।

कौक्लिया की झिल्लीकृत नली आन्तरिक कान का सर्व-प्रमुख अंग है; क्योंकि उसी में वह यन्त्र पाया जाता है जो आवाज़ के पहचानने या समझने का मुख्य साधन है। कौक्लिया की पेचीदा हड्डी और उसमें बन्द झिल्लीकृत नलिका का कुछ ज्ञान पृ० १५७४ के चित्र के देखने से हो सकता है। उसकी रचना का विस्तृत वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यहाँ इतना बतला देना काफ़ी है कि इस पेचदार नली के भीतर एक बड़ी विचित्र रचना है जो 'कौर्टी साहब का अंग' (Corte's Organ) कहलाती है। उसमें अधिकतर सूत्रों की ही क़तार रहती है। प्रत्येक सूत्र के दो भाग होते हैं, जो एक दूसरे पर मेहराब की तरह सधे रहते हैं। पेंदे की झिल्ली की सारी लम्बाई पर ये मेहराबें सटी हुई लगी रहती हैं। अनुमान किया गया है कि मनुष्य के कान में ऐसी मेहराबें ३००० से भी अधिक होती हैं। इन मेहराबों के ऊपर गावदुम आच्छादक कोषों की तह रहती है जिस पर जगह-जगह कड़े बालों के गुच्छे निकले रहते हैं। कहा जाता है कि ये बालवाले कोष ही असली सुनने वाली चीज़ हैं। वह श्रवण-नाड़ी-सूत्र, जो कौक्लिया के बीच की हड्डी के स्तम्भ से निकलकर 'कौर्टी के अंग' में पहुँचते हैं, इन कोषों से सम्बन्धित रहते हैं। इससे साफ़ जान पड़ता है कि जो लहराव या कम्पन इन श्रवण-बालों तक पहुँचेंगे, उनका प्रभाव उनसे लगे हुए नाड़ियों के छोरों पर पड़ेगा, जिससे नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचकर आवाज़ का बोध होगा।

झिल्लीकृत भँवर और कर्ण की हड्डीवाली दीवालों के बीच में कुछ ख़ाली स्थान रह जाता है। इसमें भी एक सरल पदार्थ भरा रहता है, जिसके कारण बाहरी चोटों का असर जल्दी झिल्लीकृत भँवर पर नहीं पड़ता।

कान के दो कार्य

साधारणतया कान से हम केवल सुनने का ही सम्बन्ध समझते हैं, किन्तु वह आवाज़ का बोध कराने के अतिरिक्त एक और भी काम करता है। अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ, जिनका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं, शरीर को समतुल्य रखने में सहयोगी होती हैं। इसलिए कान के दो मुख्य कर्त्तव्य हैं, एक आवाज़ की लहरों को बाहर से भीतर पहुँचाना, उनका अनुभव करना, उनका विश्लेषण करना और उन्हें समझना—ये सब बातें सुनने में शामिल हैं; दूसरे, हमारी चाल या गति को वश में रखना और शरीर को साधे रहना, जो समतुल्यता के लिए है।

आवाज़ क्या है?

कदाचित् आप सब यह तो जानते ही होंगे कि ध्वनि एक प्रकार की गति है और सभी ध्वनि-उत्पादक वस्तुओं का लक्षण उनका कम्पित होना है। सितार, बेला और सारंगी की तरह के तारवाले वाद्यों में हम यह बात सहज में ही देख सकते हैं। बजाते समय उनमें तार हिला करते हैं, किन्तु हवा से बननेवाले बाजों में यह लक्षण उतना स्पष्ट नहीं है। बाँसुरी, बिगुल और तुरही में कम्पित होनेवाली वस्तु वह हवा है जो उसके भीतर बन्द रहती है। जब हम तालाब में एक कंकड़ फेंकते हैं तो जिस जगह वह गिरता है, उस जगह से चारों तरफ़ को पानी की लहरें फैलती हुई बिलकुल साफ़ दिखलाई पड़ती हैं। ठीक इसी तरह आवाज़ निकालनेवाली वस्तु के चारों ओर की हवा उसके लहराव से कम्पायमान होने लगती है और हवा की ये लहरें एक सिलसिले में ध्वनिदायक वस्तु से दूर को फैलती चली जाती हैं। इसलिए कहा जाता है कि शब्द या ध्वनि कम्पित होनेवाली वस्तु से निकलनेवाली वायु-लहरों का सिलसिला है। कम्पन जितना ही तेज़ होता है, आवाज़ भी उतनी ही ऊँची होती है, अर्थात् ध्वनि का ऊँचा या नीचापन कम्पन की गति पर ही निर्भर है।

हवा में ध्वनि-लहरें जिस चीज़ से लगती हैं उसको भी कम्पित कर देती हैं। जिन चीज़ों के स्वर आवाज़ निकालनेवाली वस्तु से मिले रहते हैं, हवा की लहरों द्वारा बड़ी आसानी से वे कम्पित होने लगती हैं। जिस स्वर से सितार या बेले का तार मिला हो, वही स्वर हारमोनियम या पियानो पर बजाने से सितार या बेले का वही तार भी बजने लगता है। ध्वनि-लहरों की गति १०६० फ़ीट प्रति सेकंड होती है, जब हवा का ताप ०° सेंटीग्रेड हो। ज्यों-ज्यों गर्मी बढ़ती जाती है, वैसे ही उसकी गति भी तेज़ होती जाती है।

कर्ण-पटह का भीतरी दृश्य

यह बाहरी कान की नलिका के छेद पर तना रहता है। इसमें मध्य से बाहर की ओर फैलते हुए गोल मांस-पेशियों के रेशे होते हैं। इनसे कर्ण-पटह का तनाव और दृढ़ता क़ायम रहती है। इसमें बहुत-सी रक्त-नलियाँ और नाड़ियाँ होती हैं। चोट या किसी रोग के कारण यदि यह पर्दा फट जाय तो कान बहरा हो जाय।

हम कैसे सुनते हैं?

चारों ओर से आनेवाली आवाज़ की लहरें जब बाहरी कान से टकराती हैं तो वह उन्हें अपनी टेढ़ी-मेढ़ी सतह के द्वारा एकत्रित करके कान की नली की राह से कर्णपटह तक भेज देता है। इसी कारण कर्णपटह कम्पित होने लगता है। मनुष्य के कर्णपटह में १६ से लेकर ५०००० तक कम्पन होने की योग्यता पाई जाती है। इसलिए इससे कम या ऊँचे लहराव पैदा करनेवाली वायु-लहरों का प्रभाव उस पर ठीक नहीं पड़ता और यही कारण है कि अत्यन्त धीमी और बहुत ज़ोर की आवाज़ हमको साफ़ सुनाई नहीं देती। किन्तु ऊँची और नीची आवाज़ों को सुनने की शक्ति सब आदमियों में एक-सी ही नहीं होती। मनुष्य आम तौर से अपना कान हिला नहीं सकता, किन्तु और जानवर कान को खड़ा कर सकते हैं और आवाज़ की ओर घुमा सकते हैं। इसलिए जिसके कान जितने ही बड़े और हिलने-डोलनेवाले होते हैं—जैसे ख़रगोश और हिरन के—उतना ही उनको हवा की लहरों को पकड़ने और एकत्र करके भीतर की ओर भेजने में सुभीता होता है। इसलिए वे धीमी आवाज़ को सुनने तथा आवाज़ की दिशा पहचानने में हमसे कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं।

ज्योंही कान का पर्दा हिलने लगता है, उससे सटी हुई मध्य कान की तीन हड्डियोंवाली ज़ंज़ीर भी उसी के साथ-

साथ हिलने लगती है और दूसरी ओर मध्य और भीतरी कान के बीच में लगे हुए अंडाकार खिड़कीवाले पर्दे को हिला देती हैं। इससे आन्तरिक कान में भरे हुए तरल पदार्थ में वही कम्पन उत्पन्न हो जाती है और उसके दबाव में जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन होने लगता है, जिसके कारण कौर्टी के अंगवाले श्रवण-बालों में गहरा उकसाव होने लगता है। इस उकसाव की चेतना कौक्लिया में जानेवाली नाड़ी के छोरों से जब मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब हम सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण-केन्द्र तक पहुँचनेवाले सन्देश के फैलाव (Volume), मन्दता और तीव्रता के अनुसार मस्तिष्क तरह-तरह की आवाज़ों में भेद करता है। इसी के बल पर हम गाने-बजाने, हँसने, रोने, व शोर-गुल की आवाज़ों को पहचानते हैं।

यह तो हम पहले ही बतला आए हैं कि आन्तरिक कान के सहस्रों ध्वनि-ग्रहणकारी सब बिलकुल एक-से नहीं हैं। कोई भी एक ग्रहणकारी केवल एक ही चढ़ाव-उतार (Pitch) की कम्पनाओं से उत्तेजित हो सकता है, जिस प्रकार कि बेतार के ख़बर पानेवाले खम्भे उसी लहर-लम्बाई की लहरों को ग्रहण कर सकते हैं जिसके लिए वे बने हुए हैं। यह हम ठीक-ठीक अब भी नहीं कह सकते कि ग्रहणकारी विविध प्रकार की आवाज़ों का अनुभव कैसे करते हैं, किन्तु उनका परिणाम यह होता है कि यदि कई प्रकार की आवाज़ें एक साथ ही लगाई जायँ तो भी हम उन्हें एक दूसरे से साफ़-साफ़ अलग करके पहचान लेते हैं।

गाने-बजाने में "कान का सिखाना या साधना", "कान का अच्छा या बुरा होना" इत्यादि वाक्य बहुधा काम में लाये जाते हैं। इनकी सचाई श्रवणेन्द्रियों के काम करने के ढंग पर ही अवलम्बित है। सीखा हुआ गाने-बजानेवाला मिश्रित रागों के अलग-अलग स्वरों को पहचान लेता है, लेकिन किसी-किसी को, जिसने कभी उस ओर ध्यान नहीं दिया, दो रागों में भेद करना भी नहीं आता। उसे राग के ठीक या ग़लत होने का भी पता नहीं चलता। वह तो केवल यही जानता है कि आवाज़ उसे अच्छी लग रही है या बुरी। कान के श्रवण-बाल सचमुच आवाज़ को साधारण तत्त्वों में बाँट देते हैं। मस्तिष्क फिर उन्हें मिला लेता है। इसलिए हमको उनके बँटाव की नहीं बल्कि मिलाव पर ध्यान देने की आदत हो जाती है। अच्छी शिक्षा से प्रत्येक मनुष्य को आवाज़ के विश्लेषण की थोड़ी-बहुत पहचान हो सकती है और सुने हुए रागों के कुछ तत्त्वों की पहचान भी उसे आ सकती है। इसलिए लोगों का यह कहना कि हमारे कान गाना-बजाना सीखने के लायक़ नहीं हैं वैसी ही बात है जैसा कि किसी सूझते आदमी का न पढ़ने के लिए यह बहाना करना कि उसके आँख ही नहीं है। कानों का अच्छा या बुरा होना तो अभ्यास की ही बात है। यह अवश्य है कि थोड़ा-बहुत फ़र्क़ स्वाभाविक रुझान के कारण होता है।

आवाज़ की दिशा पहचानना

आवाज़ की दिशा किसी हद तक सभी पहचान लेते हैं, किन्तु अक्सर हमें धोखा भी हो जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि सुननेवाले के दाहिनी ओर कोई आवाज़ हो तो वह दाहिने कान में अधिक ज़ोर से सुनाई पड़ेगी और प्रत्येक ध्वनि-लहर दाहिने कान में बायें कान की अपेक्षा एक सेकेंड के कुछ अंश जल्दी पहुँचेगी। आवाज़ की दिशा पहचानने की असल में यदि कोई पहचान हममें है तो वह कानों में सुनाई देनेवाली आवाज़ की तेज़ी और समय के फ़र्क़ पर ही निर्भर है। आवाज़ की दिशा पहचानने में मनुष्य की शक्ति अधिक तीक्ष्ण नहीं है। वह अक्सर ही धोखा खा जाता है। घर में मामूली आवाज़ों के सुनते रहने से हम उनसे इतने परिचित हो जाते हैं कि जान जाते हैं कि वह किस की है और किधर से आ रही है; किन्तु जब कोई अपरिचित या असाधारण आवाज़ हमें सुनाई देती है तो हम चकरा जाते हैं और यह नहीं पता लगा पाते कि वह कहाँ से आई।

कान का दूसरा कर्त्तव्य—समतुल्यता

कान की वे तीनों अर्द्धचक्राकार नलियाँ, जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं, सुनने से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। वे हमारे शरीर को समतुल्य रखने के ही अंग हैं। ये नलियाँ तरल पदार्थ से भरी रहती हैं। उनके धरातल भिन्न-भिन्न होते हैं और वे धरातल की सतह नापने के यंत्र (Spirit-level) की तरह काम करती हैं। शरीर के इधर-उधर झुकने या सिर के मोड़ने पर इन नलियों का तरल पदार्थ और उसमें विद्यमान कण भी हिल जाते हैं। इसका असर नलियों में जानेवाले श्रवण-स्नायु के छोरों पर पड़ता है। वहाँ उन्हें जो उत्तेजना मिलती है वे उसे मस्तिष्क में पहुँचा देती हैं। मस्तिष्क इस उत्तेजना का प्रयोग करके हमसे ऐसी हरकतें कराता है कि हमारी गड़बड़ाई हुई समतुल्यता फिर स्थिर हो जाय। यह बात सच है कि कौक्लिया से मुख्य नाड़ी-मार्ग बृहत् मस्तिष्क को जाता है, लेकिन अर्द्धचक्राकार नलियों का मुख्य नाड़ी-सम्बन्ध लघु मस्तिष्क से होता है। यह मस्तिष्क का वह भाग है, जो विशेषकर

समतुल्यता से सम्बन्धित है। कान-सम्बन्धी समतुल्यता की समझ मनुष्य में अधिक बढ़ी-चढ़ी नहीं है, इसलिए हम शरीर को साधने और ठीक गतियाँ करने के लिए इस इन्द्रिय पर ही अवलम्बित नहीं हैं। इस बात में दृष्टि, पेशियाँ, जोड़, कंडरा तथा अन्य रीतियों से भी उसको सहायता मिलती है। चिड़ियों में समतुल्यता की इन्द्रिय हमसे कहीं उत्तम है। अब मनुष्य भी वायुयानों में उड़ने लगे हैं, इसलिए इन नलियों की विशेषता उनमें पहले से बढ़ गई है। जब उड़ाकू कुहरे से घिर जाता है तो उसे बहुत-कुछ इसी इन्द्रिय पर भरोसा करना पड़ता है। अतः उड़नेवालों में यह शक्ति तीक्ष्ण होना लाभप्रद है।

२. घ्राणेन्द्रिय—नासिका

यह तो आपको मालूम ही है कि सूँघने का सम्बन्ध नाक से है, किन्तु नाक ६० प्रति सैकड़ा तो साँस लेने का काम करती है और उसका केवल १० प्रति सैकड़ा ही काम सूँघने का है। लेकिन यही $\frac{१}{१०}$ वाँ कार्य ही यह पहचानने में हमें मदद देता है कि हवा शुद्ध है अथवा अशुद्ध। नासिका का सूँघनेवाला भाग उसकी जड़ में भीतरी ओर पाया जाता है। शेष नाक, नथुने से लेकर गले के पिछले छेद तक, हवा का मार्ग ही है। नाक के निचले भाग से सूँघने की क्रिया से कोई मतलब नहीं। साधारणतः साँस द्वारा जो हवा नथुनों में घुसती है वह पिछले गले के प्रत्येक सूराख़ में होती हुई श्वासोच्छ्वास-नली में चली जाती है। खोपड़ी की तरफ़ वाले ऊपरी भाग में हवा स्थिर रहती है और साँस द्वारा भीतर जाने या बाहर आनेवाली हवा मामूली तौर से उसे गड़बड़ाती नहीं। साँस लेते समय हमको किसी प्रकार की महक न मिलने का यही कारण है। महक का पता लगाना चाहने पर हम नाक को ज़ोर से सिकोड़कर हवा ऊपर की ओर सूँतते हैं जिससे गन्धयुक्त वायु ऊपर के घ्राण-भाग तक पहुँचती है और हमको सुगन्ध का ज्ञान होता है।

खोपड़ी का वर्णन करते हुए हम पहले ही बतला चुके हैं कि नथुनों के गड्ढों में पीछे से निकली हुई, काग़ज़ के मुट्ठे-जैसी लपेटी हुई महीन हड्डी होती है। गन्ध का पता लगानेवाले कोष दोनों गड्ढों के बीच के पर्दे और इस पलटी हुई हड्डी को मढ़नेवाली श्लैष्मिक झिल्ली पर रहते हैं। इस झिल्ली में ख़ून की अनेकों पतली-पतली नलियाँ और मस्तिष्क की पहली नाड़ी—गन्धनाड़ी—के स्नायु-तार बहुतायत से रहते हैं। सूँघनेवाले लम्बे तथा पतले कोषों के बाहरी छोरों पर महीन-महीन रोयें निकले रहते हैं और उनके भीतरी छोर नाड़ी-सूत्रों से सम्बन्धित रहते हैं। जब सुगन्ध के कण वायु द्वारा नाक के इस पिछले भाग में पहुँचकर इन सांवेदनिक कोषों को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करते हैं तभी घ्राण-नाड़ियों द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्रों में पहुँच हमें गन्ध का बोध कराता है। इस सचेत गहरे पीले रंगवाली श्लैष्मिक झिल्ली से हम केवल इत्र, गुलाब-केवड़ा आदि की ही सुगन्ध को नहीं सूँघते हैं, वरन् रसोई में बननेवाले उन स्वादिष्ट भोजनों का पता भी, जिनका नाम सुनकर हमारे मुँह में पानी भर आता है, हम दूर से ही बिना चखे केवल उनकी ख़ुशबू से लगा लेते हैं। नाक के ऊपर, पीछे मिलनेवाले नाज़ुक गन्ध-ग्रहणकारी कोष तभी उत्तेजित होते हैं जब कोई सुगन्धित वस्तु वायव्य या चूर्ण के रूप में इन कोषों तक पहुँचकर श्लैष्मिक झिल्ली से निकलनेवाले तरल पदार्थ में घुल जाती है।

हमारी सूँघने की शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण है। वैलेन्टीन साहब के अनुसार हम मुश्क के एक ग्रेन का $\frac{१}{१००००००००}$ वाँ अंश भी अच्छी तरह सूँघ सकते हैं। इतना होने पर भी मनुष्य की सूँघने की शक्ति बहुत-से छोटे-छोटे जानवरों से भी कम है। कुत्ता आदमी को पहचानने में केवल देखकर ही सन्तुष्ट नहीं होता—जब तक वह पास जाकर उसको सूँघ न ले उसको पूर्ण विश्वास नहीं होता। यह सिद्ध कर दिया गया है कि कुछ तितलियों तथा उनके सम्बन्धी पतिंगों (Moths) में नर बहुत दूर—क़रीब आधी मील—से सूँघकर मादाओं का पता लगा लेते हैं। चींटी को अपनी तीक्ष्ण घ्राण-शक्ति के ही कारण दूर से ही मिठाई का पता लग जाता है। अपने तथा दूसरे बिलों की चींटियों को वे उनकी गन्ध से ही पहचानती हैं। अनेकों जीवधारियों के लिए सूँघना अत्यन्त उपयोगी है। वह उन्हें शत्रु से रक्षा करने, भोजन को खोजने, अपने भाई-बन्धुओं को पहचानने और जोड़े का पता लगाने में सहायता देता है। कभी-कभी घर के मार्ग का भी सूँघकर ही पता लगा लेते हैं।

किसी चीज़ को यदि हम कुछ देर सूँघते रहते हैं तो फिर उसकी ख़ुशबू धीमी क्यों होने लगती है या ग़ायब-सी क्यों हो जाती है? इसका कारण यह है कि गन्ध-ग्रहणकारी थोड़ी ही देर में थक जाते हैं। किसी तेज़ सुगन्धमय वातावरण में कुछ देर रहने के बाद हम स्वच्छ वायु में आएँ और फिर सुगन्धयुक्त वायु में वापस जायँ तो हमको इस बात का पता चल जायगा कि हमारी यह शक्ति कैसे थक जाती है और फिर कैसे ठीक हो जाती है। तेज़ ज़ुकाम हो जाने

के दिनों में ख़ुशबू का पता नहीं चलता । क्यों ? नथुनों की श्लैष्मिक झिल्ली सर्दी के कारण सूज जाती है और हवा को नाक के ऊपरी भाग तक पहुँचने से रोक देती है । दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि झिल्ली के सूज जाने से नाड़ी-सूत्रों के छोर तथा ग्रहणकारियों के सांवेदनिक रोयें गहरे दब जाते हैं । इसलिए गन्ध का उन पर प्रभाव ही नहीं पड़ पाता । बहुत-सी ख़ुशबुओं को हम पहचानते तो हैं लेकिन आवाज़ या रंग की तरह उसमें झिल्ली में ही होते हैं, नीचे की सतह में नहीं होते । इसी-लिए जीभ की ऊपरी सतह खुरखुरी और नीचे की चिकनी होती है । इन उभरे हुए दानों ही से हमको स्वाद का पता चलता है । इसलिए हम उनको स्वाद-अंकुर या स्वाद-कलियाँ कहते हैं । प्रत्येक कली कोषों का एक समूह है, जो आकार में प्याज़ की छोटी गाँठ-सा होता है । इसमें सहारा देनेवाले तथा रक्षा करनेवाले कोषों के थैलों में घिरे हुए १० से १६ तक स्वाद-कोष होते हैं । इन स्वाद-

हम कैसे सुनते हैं ?
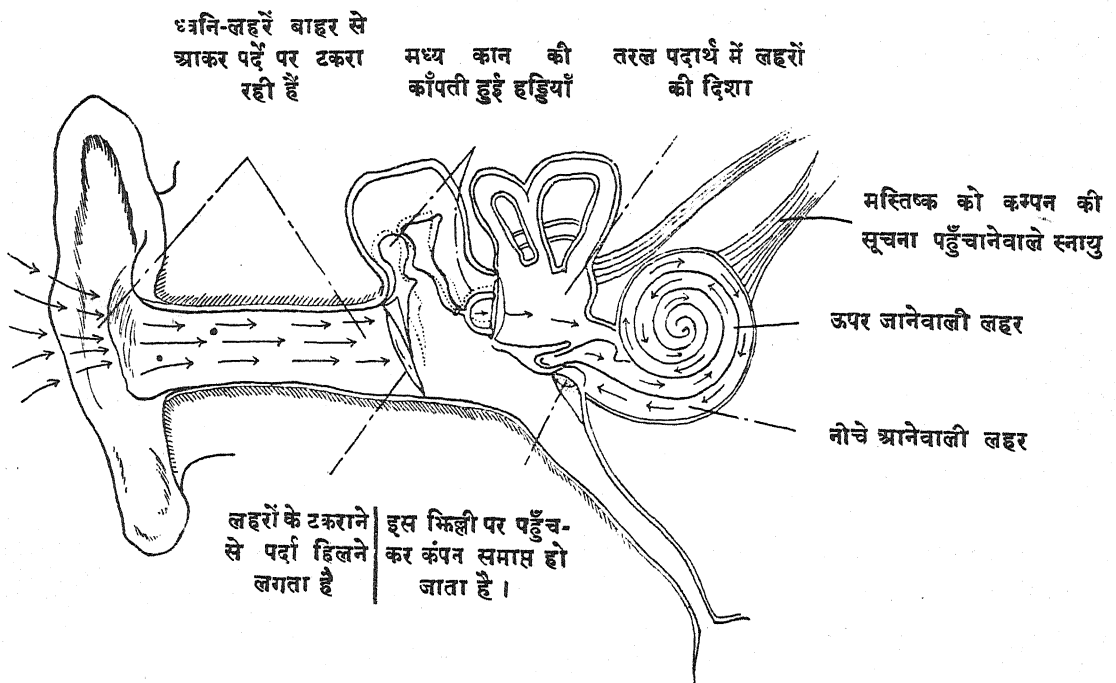
ध्वनि-लहरें कान के भीतर घुसकर कर्ण-पटह को हिलाती हैं । इसके हिलने से मध्य कान की हड्डियोंवाली जंज़ीर भी कम्पित होने लगती है । यही कंपन अंडाकार झिल्ली से होकर कौक्लिया में भरे हुए तरल पदार्थ में भी पहुँच जाता है । अन्त में यह नाड़ी-सूत्रों के छोरों को भी उत्तेजित कर देता है । जब यह उत्तेजना नाड़ी-सूत्रों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचती है, तभी हम सुनते हैं ।

कोई निश्चित पैमाना नहीं है । हमको ख़ुशबुओं की याद में अक्सर धोखा हो जाने का शायद यही कारण है ।

३. स्वादेन्द्रिय—जीभ

यदि आप शीशे में अपनी जीभ देखें तो उस पर बहुत से छोटे-छोटे दाने बिछे हुए नज़र आयेंगे । इनमें से जीभ के पिछले हिस्से में V आकार की एक क़तार में काफ़ी बड़े-बड़े दाने होते हैं । ये दाने जीभ के ऊपर की श्लैष्मिक

कोषों के चारों ओर स्नायु-तार लिपटे रहते हैं और इन्हीं के द्वारा स्वाद की ख़बर मस्तिष्क तक पहुँचती है । जिह्वा को छोड़कर कुछ स्वाद-कलियाँ तालू, होंठ और गालों में भी होती हैं । वास्तव में स्वाद चार प्रकार के ही होते हैं—मीठा, खट्टा, नमकीन और कड़वा । अन्य स्वाद इन्हीं चारों के मिलने से बनते हैं । एक स्वाद-कली सब तरह के स्वाद नहीं ले सकती । कोई सिर्फ़ मीठी चीज़ों को

चखती हैं कोई खट्टी, कोई नमकीन तो कोई कड़वी।

आश्चर्यजनक बात तो यह है कि स्वादों की पहचान सारी जीभ पर एक सी ही नहीं है। किसी जगह एक स्वाद के कोष अधिक हैं तो किसी जगह दूसरे और कहीं-कहीं बिल्कुल स्वादकोष हैं ही नहीं। बच्चे अक्सर मिठाई को ज़बान की नोक से चाटते हैं, क्योंकि वे सीख जाते हैं कि उन्हें इस तरह मिठाई का ज़्यादा मज़ा मिलता है, गोकि वे यह नहीं जानते कि जीभ का अगला हिस्सा या छोर ही मीठी चीज़ों के स्वाद लेने का स्थान है। इस जगह की स्वाद-कलियाँ विशेषकर मिठाई से ही अर्थ रखती हैं। जब हम कोई बहुत ही कड़वी वस्तु खाते हैं तो कहते हैं कि इससे तो हलक़ तक कड़वा हो गया, लेकिन हम यह नहीं जानते कि जीभ के अगले हिस्से में तो हमें कड़वाहट का पता चल ही नहीं सकता, क्योंकि कड़वाहट का बोध करानेवाली स्वाद-कलियाँ जीभ के सबसे पिछले हिस्से में होती हैं। जीभ के दायें और बायें किनारों पर खटाई और नमक का स्वाद जाननेवाली कलियाँ अधिक होती हैं। युवकों में जीभ के बीच का हिस्सा बिल्कुल स्वाद-रहित होता है, किन्तु बच्चों में स्वाद-कलियाँ सारी जीभ और मुँह के नर्म अस्तर पर भी फैली होती हैं। जब आप मिश्री खाएँ तो उसको आगे की ही ज़बान पर चूसिये, क्योंकि वहीं पर आपको उसका सबसे अच्छा मिठास मिल सकेगा। कड़वी दवा को बहुत जल्दी से निगल जाइए, जिससे वह जीभ के पिछले भाग से जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी निकल जाए। यदि भोजन का पूरा स्वाद लेना चाहते हैं तो उसको अच्छी तरह चबाइए, जिससे स्वाद-स्थानों को उसका पूरा मज़ा मिले। स्वादेन्द्रिय का पूर्ण लाभ प्राप्त करने का यही सुगम उपाय है।

स्वाद भी गन्ध की तरह रासायनिक संवेदना है और दोनों को ही उत्तेजित करनेवाला पदार्थ पानी में घुलने पर ही अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है। स्वाद तभी जाना जा सकता है जब खाद्य-सामग्री घुले हुए रूप में हो या मुँह में पहुँचकर लार में घुल जाय। यदि जीभ को अच्छी तरह पोंछकर सुखा डाला जाय तो किसी भी स्वाद का पता न चले। आप स्वयं इस बात की जाँच कर सकते हैं। ज़बान को ख़ूब पोंछकर उस पर एक टुकड़ा मिट्टी या नमक रखिए तो उस समय तक कोई स्वाद न मालूम होगा जब तक थूक या लार से वह घुलने न लगे। स्वाद और गन्ध में और भी सम्बन्ध है। जब हम सेब या संतरे का एक टुकड़ा मुँह में रखते हैं तो हमें उनकी विशेष मनभावन लज़्ज़त का जो स्वाद मिलता है उसको हम सेब या संतरे का ही स्वाद कहते हैं। वह केवल मीठा, खट्टा, नमकीन या कड़वा कहकर नहीं समझाया जा सकता। किसी चीज़ के ज़ायक़े में उसके स्वाद के अतिरिक्त और भी कोई चीज़ अवश्य शामिल है। यह दूसरी चीज़ उसकी सुगन्ध है। जब हम सेब या संतरे को मुँह में चबाते हैं तो उसके मीठे या खट्टे होने का बोध तो जिह्वा से होता है लेकिन उनकी उड़नेवाली महक तालू में होकर नाक के भीतर पहुँचती है और घ्राणेन्द्रिय को उत्तेजित करती है। अतः किसी चीज़ की लज़्ज़त उसके स्वाद और गन्ध दोनों का मेल है। आपकी आँखों पर पट्टी बाँधकर और नाक ज़ोर से दबाकर बन्द करके मुँह में सेब और नासपाती के टुकड़े बारी-बारी से रक्खे जायँ तो आप बतला न सकेंगे कि कौन-सा टुकड़ा किस चीज़ का है। उन दोनों में अन्तर सूँघने का है चखने का नहीं।

गन्ध के सदृश स्वाद भी सहज में मंद पड़ जाता है अथवा हमारी तबियत उससे भर जाती है। अगर हम मीठी चीज़ बहुत देर तक खाते रहें तो फिर उसका मिठास उतना तेज़ नहीं लगता। यही कारण है कि ऐसी चीज़ें यदि हम थोड़ी-सी ही खाएँ तो जो स्वाद हमें मिलता है वह बहुत-सी खाने पर नहीं मिलता। यह अत्यन्त बुद्धिमानी है कि प्रति-दिन के भोजन की मूल वस्तुएँ—दाल, भात, रोटी आदि—सीठी होती हैं। वे ऐसी न होतीं तो रोज़-रोज़ हम उनको ही भूख भर खाने में परेशान हो जाते। ये सब चीजें तो हम बहुत-सी खाते हैं, लेकिन चटनी या अचार यदि एक पोरा भी खा लें तो खाने का मज़ा मिल जाता है। चारों स्वादों और गन्धों की संवेदना देनेवाले कोषों के अतिरिक्त और भी सांवेदनिक कोष हैं, जिनसे पदार्थों की चरपराहट या शीतलता का बोध होता है; जैसे मिर्च से चरपराहट और पिपरमिंट तथा मलाई की बर्फ़ से ठंढक का।

तेज़ ज़ुकाम हो जाने पर केवल हमारी घ्राण-शक्ति ही मन्द नहीं हो जाती, बल्कि स्वाद भी बिगड़ जाता है। जो चीज़ें पहले अच्छी लगती हैं वे उस समय बेस्वाद प्रतीत होती हैं। गन्ध और स्वाद हमारे दो बड़े आवश्यक नौकर हैं, जिनके सहयोग से हमको अपने खाने के स्वाद और सुगन्ध का मज़ा मिलता है। यदि खाने में मज़ा न मिले तो खाना ठीक से हज़्म न हो और शरीर-रूपी घर गड़बड़ा जाय। ये दोनों नौकर यदि पूर्ण सत्याग्रह कर दें तो हमारे स्वास्थ्य और आराम का क्या हाल हो यह हमारी कल्पना से परे है। जीभ पर जब दो-चार छाले निकल आते हैं तभी सारे खाने हमको फीके-से लगने लगते हैं!
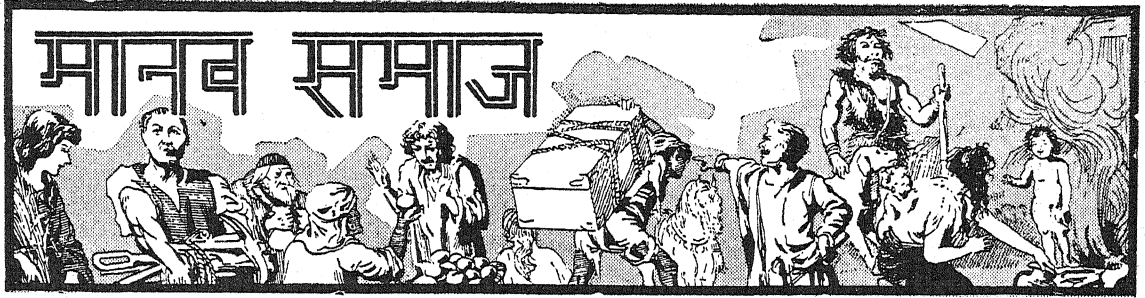
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

व्यापार के विस्तार के सम्बन्ध में यह बतलाया जा चुका है कि सुदूर यात्रा के शीघ्रगामी तथा सुगम साधनों द्वारा व्यापार का विस्तार केवल एक ग्राम अथवा नगर में सीमित न रहकर समस्त देश तथा देशान्तरों में फैल गया। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उतना सरल नहीं था जितना कि देश के अन्दर का व्यापार। व्यापार-विधि सुदृढ़ होने पर भी पदार्थ को एक देश से दूसरे देश को ले जाकर बेचना अधिक व्यय तथा यात्रा के संकट से रहित नहीं था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कितने ही अंशों में सीमित रहा। केवल वे ही पदार्थ देशान्तरों को भेजे जा सकते थे जो यात्रा-काल तक ख़राब न हों। उदाहरण के लिए यह कह सकते हैं कि ताज़े फल, तरकारी इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पदार्थ नहीं हो पाते थे। दूसरी बात यह थी कि पदार्थ को देशान्तर में ले जाने का व्यय उस पदार्थ के मूल्य को बहुत बढ़ा देता था और केवल धनी पुरुष ही उसे मोल ले सकते थे। इस प्रकार जन-साधारण में बिकनेवाले पदार्थ, जो बड़ी संख्या में तथा सस्ते मूल्य के होने चाहिएँ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में नहीं आ सके। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास यह बतलाता है कि इस प्रकार का व्यापार पहले भोगविलास के पदार्थों तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों से आरम्भ हुआ। भारतवर्ष की बनी हुई मलमल, ढाके का रेशम, दक्षिण भारत का मसाले का सामान इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पहले सामने आए। इसी प्रकार अफ़्रीका का सोना, शुतर्मुर्ग़ के पर इत्यादि भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रारम्भकाल का इतिहास बतलाते हैं। व्यापार-मार्ग भी उस समय की उन्नति के अनुसार दुष्कर, भयप्रद तथा अधिक ख़र्चवाले थे। बहुत प्रारम्भकाल में व्यापार केवल धरती की राह से ही होता था। भारतवर्ष का माल ऊँट के क़ाफ़िले द्वारा सरहदी सूबे से होकर अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, इराक़, इत्यादि मध्यपूर्वीय देशों से घूमता हुआ कुस्तुन्तुनिया पहुँचकर योरप में बेचा जाता था। इन्हीं बहुमूल्य पदार्थों से भरे क़ाफ़िलों को देखकर मुहम्मद ग़ोरी, तैमूरलंग तथा बाबर आदि को भारतवर्ष की अगाध सम्पत्ति की सूचना मिली थी और इसी धन तथा व्यापार के लिए भारतवर्ष पर उत्तर-पश्चिम से अनेक आक्रमण हुए। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल पृथ्वी-मार्ग पर ही सीमित नहीं रहा। समुद्र के किनारे के भाग में बन्दरगाहों से होकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समुद्री मार्ग द्वारा भी होता था। छोटी-छोटी नावें व समुद्री बेड़े एक देश से दूसरे देश को माल ले जाते थे। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि समुद्री व्यापार में भारतवर्ष न केवल अगुवा ही था वरन् भारतवर्ष का समुद्री व्यापार आदि काल में अन्य देशों की अपेक्षा सब से अधिक था। इतिहासज्ञों का कथन है कि जहाज़ द्वारा समुद्री यात्रा पहले-पहल भारतवासियों ही ने प्रारम्भ की। भारतवर्ष में समुद्रीय जहाज़ बनाने की कला का विस्तृत रूप से वर्णन पाया जाता है। भारतवर्ष का समुद्रीय व्यापार पूर्व तथा पश्चिम दोनों दिशाओं में होता था। पश्चिम में नेपल्स, जो इटली के पूर्व-उत्तरीय भाग में प्रमुख बन्दरगाह है, भारतवर्ष के भेजे हुए जहाज़ों के उतरने का मुख्य बन्दरगाह था। यहाँ से माल सारे योरप में भेजा जाता था। फ्रांस तथा इंगलैण्ड के राज-परिवार तथा शासकवर्ग भारतवर्ष के बने हुए पदार्थों के माननीय ग्राहक थे। पूर्व में चीन देश का बन्दरगाह पेकिंग व्यापारिक जगत् में बहुत महत्त्व रखता था। इतना होते हुए भी उस समय का समुद्री व्यापार बहुत संकटपूर्ण तथा अनिश्चित होता था। कारण यह था कि मनुष्य ने उस समय तक समुद्र पर पूर्ण विजय नहीं पाई

थी। इनके बनाये हुए जहाज़, नावें इत्यादि समुद्र की लहरों, ज्वारभाटा तथा प्रबल वायु की धाराओं के अधीन थे। कभी-कभी पूर्व को जानेवाले जहाज़ वायु द्वारा दक्षिण को बहा ले जाये जाते और मनुष्य के निश्चित कार्य-क्रम को अपने प्रकोप से भंग कर देते। इसी समय में कोलंबस इत्यादि नाविकों की यात्राओं की शुरुआत हुई। कोलंबस भारतवर्ष की धनराशि तथा व्यापार से आकर्षित होकर इसी देश को समुद्री मार्ग से आ रहा था, परन्तु वायु-वेग ने उसे अज्ञात अमेरिका में पहुँचा दिया। इस प्रकार की अनिश्चित तथा संकटपूर्ण यात्रा के द्वारा ले जाये हुए माल का मूल्य स्वभावतः ही अधिक होता था और इसी कारण ऐसा माल जनसाधारण तक नहीं पहुँच सका। भाप के जहाज़ों के आविष्कार ने यह संकट दूर किया और जल-मार्ग पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित हुआ। अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निश्चित तथा सुगम हो गया। निर्धारित समय में अब जहाज़ द्वारा माल निश्चित स्थान पर पहुँच सकता है। बड़े-बड़े जहाज़ों द्वारा बहुत-सा माल थोड़े ख़र्च में सुदूर देशों को भेजा जा सकता है। इस सुविधा के बाद कम मूल्यवाले पदार्थ भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित हुए। आजकल के हवाई जहाज़ों ने देश-देशान्तरों की सुदूर यात्रा में लगनेवाले समय को अत्यन्त कम कर दिया है, जिससे फल इत्यादि तक बड़ी सुगमता से समुद्र तथा पर्वत नाँघकर देशान्तरों को भेजे जा सकते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जगत्व्यापी हुआ और हर देश की प्रत्येक वस्तु दूसरे देश को जाने लगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार से पदार्थ-उत्पादन की भी नयी योजनाएँ बनाई गईं। सहयोगिक उत्पादन-क्षेत्र, जो नगर तथा देश तक ही सीमित था, अब देशान्तरों में अपना प्रभाव फैलाने लगा। जिस प्रकार एक ग्राम में एक परिवार एक विशेष पदार्थ के उत्पादन में पूर्ण शक्ति से संलग्न रहता था अथवा जैसे एक ग्राम या एक नगर एक मुख्य पदार्थ के उत्पादन में निपुणता तथा विशेषता प्राप्त करता था और वही उसका मुख्य व्यापार-भाजन हो जाता था, उसी प्रकार अब पदार्थ-उत्पादन देशों में बाँटा गया। पहले प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न प्रान्त अथवा नगर विशेष पदार्थों का उत्पादन करते और फिर आपस में पदार्थ-बदली अथवा व्यापार द्वारा सारे देश में उन्हें बेचते। उसी प्रकार अब प्रत्येक देश केवल एक अथवा दो पदार्थों के उत्पादन का कार्य करने लगा और एक देश के बदले सारे संसार में उन पदार्थों की बिक्री अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगा। सारांश यह कि आर्थिक संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण किया। इस प्रकार प्रत्येक देश को प्रचुर मात्रा में पदार्थ-उत्पादन करना पड़ता है और फिर वह पदार्थ संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जल, थल तथा आकाश-मार्ग से पहुँचाया जाता है। जगत्-परिवार का यह मनोहर मूल रूप है। इस प्रकार के संगठन से एक लाभ यह हुआ कि प्रत्येक देश में केवल वही पदार्थ बनता जिसके बनाने के लिए वह देश प्राकृतिक रूप से सर्वश्रेष्ठ होता अथवा जहाँ उस पदार्थ के उत्पादन के सारे साधन बहुसंख्या में विद्यमान होते। यह बात प्रत्यक्ष है कि ऐसे देश उन विशेष पदार्थों को अन्य देशों की अपेक्षा कहीं कम मूल्य पर बना सकते हैं। दिन-प्रति-दिन तथा वर्ष-प्रति-वर्ष वही पदार्थ बनाने से वहाँ का मज़दूर-दल भी उस कार्य में निपुण हो जाता है। इस प्रकार संसार के सारे लभ्य पदार्थ प्रकृति द्वारा निश्चित स्थान में ही बनाये जाते हैं और संसार के सब पुरुष उन्हें मोल लेकर अथवा अपने देश के बनाये हुए पदार्थ देकर जीवन-सुख उठाते हैं। बहुत समय तक ऐसा ही आर्थिक संगठन चलता रहा। कौन-से पदार्थ किस देश में बनाए जायँ, इसका निश्चय उस पदार्थ के बनाने के मूल्य से नहीं होता। जैसे भारतवर्ष यदि खेती द्वारा कच्चे माल का उत्पादन करता है तो कच्चे माल का भारतवर्ष में पैदा किया जाना इसलिए निश्चय नहीं किया गया कि संसार के सब देशों में खेती का माल सबसे सस्ता भारतवर्ष में ही हो सकता है, वरन् इस सिद्धान्त पर कि भारतवर्ष में अन्य व्यवसाय की अपेक्षा खेती की सबसे अधिक सुविधा है। इसलिए भारतवर्ष के आर्थिक हित की बात यही है कि वह खेती का उद्यम प्रधान रूप में रक्खे। यदि यह मान लें कि खेती में अधिक प्राकृतिक सुविधा होते हुए भी भारतवर्ष खेती न करके किसी और पदार्थ के उत्पादन में अग्रसर हो तो इसका परिणाम यह होगा कि भारतवर्ष में इस नये पदार्थ के बनाने से आर्थिक आय खेती की अपेक्षा कम होगी जोकि देश के लिए वार्षिक धनोपार्जन की दृष्टि से एक अहितकर बात है। इसको यों भी समझ सकते हैं कि भारतवर्ष में खेती के लिए प्राकृतिक सुविधा अन्य व्यवसाय की अपेक्षा अधिक होते हुए भी यदि खेती का उद्यम न किया जाय तो प्राकृतिक सुविधाएँ व्यर्थ नष्ट होंगी और अन्य जो उद्यम खेती के बजाय किया जायगा उसमें सुविधाएँ न होने से या तो उत्पादन की मात्रा कम होगी या उसका उत्पादन-मूल्य अधिक होगा। दोनों अवस्थाओं

में धन, जन तथा प्राकृतिक सुविधाओं का उपयोग पूर्ण रूप से नहीं हो सकेगा। अतएव संसार के सब देश अपनी-अपनी प्राकृतिक सुविधाओं (natural advantages) के अनुसार उत्पादन-कार्य को बाँट लेते हैं और अन्य पदार्थ दूसरे देशों से मोल लेते हैं तथा उनके बदले में अपने देश के बनाये हुए माल को बेच देते हैं। इस प्रकार के उत्पादन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के सिद्धान्त को आपेक्षिक मूल्य सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs) कहते हैं। इसके अनुसार हर देश अपनी प्राकृतिक सम्पत्ति, जनसंख्या तथा व्यापारिक धन से अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है। इस प्रकार के उत्पादन के बँटवारे का उदाहरण भारतवर्ष का कृषि-प्रधान उद्यम, इङ्गलैण्ड का मशीनों द्वारा चीज़ों का उत्पादन, जर्मनी तथा पश्चिमी योरप के देशों में लोहे की मशीनों का उत्पादन, रूस का कच्चा माल पैदा करना इत्यादि हैं।

इस प्रकार के उत्पादन, बँटवारे तथा आर्थिक संगठन की सफलता का मूल मन्त्र "अबाधित व्यापार का सिद्धान्त" (Free Trade) है, जिसका अर्थ यह है कि कोई देश व्यापारिक उत्पादन अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्राकृतिक नियम में बाधक स्वकल्पित नियम न बनाएँ और प्रत्येक देश को किसी अन्य देश के हाथ उत्पादित पदार्थ बेचने तथा मोल लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सुविधा हो। अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्रकार के अबाधित व्यापार के सिद्धान्तानुसार अधिकांश देशों में व्यापारिक व्यवस्था रही। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होने के पहले ही से इस व्यापार-प्रणाली में शिथिलता के चिह्न दिखाई देने लगे, जिसका प्रमुख कारण व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता था। मशीनों द्वारा उत्पादन के पूर्वकाल में इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता के पैदा होने की सम्भावना कम थी और इसीलिए उस समय तक अबाधित व्यापार बहुतांश में चलता भी रहा। मशीनों का आविष्कार तथा व्यापारिक उत्पादन में मशीनों का व्यवहार पहले-पहल इङ्गलैण्ड में हुआ और इस कारण से संसार में मशीन द्वारा उत्पादित पदार्थ (manufactured goods) की सम्पूर्ण ठेकेदारी बहुत समय तक इङ्गलैण्ड के हाथ में रही। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि अन्य पदार्थों का उत्पादन कृषि की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है, क्योंकि उत्पादित पदार्थ का मूल्य कच्चे माल की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। दूसरे यह कि पदार्थ-उत्पादन-कार्य लगभग वर्ष के बारहों महीने किया जा सकता है जब कि कृषि का कार्य वर्ष के केवल कुछ ही महीनों में हो सकता है और फिर भी उसकी सफलता ईश्वराधीन रहती है। मशीन द्वारा उत्पादन-कार्य की ठेकेदारी लेकर इङ्गलैण्ड ने संसार के अन्य देशों से कच्चा माल मोल लेकर पदार्थ-उत्पादन करना प्रारम्भ किया और उन पदार्थों को पुनः उन्हीं तथा अन्य देशों में बेचा। इस प्रकार इङ्गलैण्ड का श्रमजीवी दल उत्पादन में संलग्न रहा और पदार्थ बनाने, उन्हें सुदूर देशों में ले जाने, तथा बेचने का व्यापारिक लाभ उनके देश को मिला। इस प्रकार इङ्गलैण्ड संसार भर के व्यापार का केन्द्रस्थान-सा हो गया, क्योंकि प्रत्येक देश से कच्चा माल इङ्गलैण्ड को आता और उत्पादित पदार्थ इङ्गलैण्ड से उन देशों को भेजे जाते। उत्पादन-केन्द्र के साथ ही व्यापार-वाणिज्य की आवश्यकता के अनुसार इङ्गलैण्ड में महाजनी का केन्द्र भी क्रमशः स्थापित हुआ और आज तक लंदन संसार का महाजनी केन्द्र बना हुआ है। जहाज़ की कम्पनियाँ व व्यापारिक कम्पनियाँ इत्यादि भी इङ्गलैण्ड में खुलीं, जिनमें ईस्ट इंडिया कम्पनी, पी० एण्ड ओ० शिप्पिंग कंपनी इत्यादि सुविख्यात हुईं। इन बातों से यह सिद्ध हुआ कि उत्पादन का केवल एक साधन, अर्थात् मशीन, जिसका अविष्कार अल्पकाल से हुआ था, होते हुए भी इङ्गलैंड ने सम्पूर्ण उत्पादन-कार्य अपने देश में करना प्रारम्भ किया और अन्य देशों से जहाँ उत्पादन की अन्य समस्त सुविधाएँ थी उसने प्रतिद्वन्द्विता ठानी। मशीन का बना हुआ माल सस्ता होने से हाथ का कारीगरों का बनाया हुआ माल बाज़ार में बिक नहीं सका और क्रमशः उनका उद्यम नष्ट होने लगा। उसका स्थान इङ्गलैंड के मशीन द्वारा उत्पादित पदार्थ ने ले लिया। इस प्रकार इन देशों का उद्यम तथा व्यापार नष्ट हुआ और बेकारी बढ़ी। भारतवर्ष का कपड़े, रेशम तथा नील इत्यादि का भूतपूर्व व्यापार भी इसी प्रकार नष्ट किया गया था। इस प्रकार इङ्गलैण्ड ने आपेक्षिक मूल्य उत्पादन सिद्धान्त (Comparative Costs Production theory) का उल्लंघन किया और अबाधित व्यापार का सहारा लेकर संसार में व्यापारिक साम्राज्य स्थापित किया। इस व्यापारिक साम्राज्य के स्थापन में व्यापारिक नीति तथा राजनीतिक कूटनीति से पूरी-पूरी सहायता ली गई। इस प्रकार इङ्गलैंड का व्यापार-विस्तार राज्यबल तथा राजनीतिक कूटनीति के आधार पर हुआ। कहीं राज्यबल ने व्यापारिक प्रभुत्व को अग्रसर किया तो कहीं व्यापार-मिश्रित कूटनीति ने इङ्गलैंड का राज्य स्थापित

किया। भारतवर्ष, अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका का इतिहास इसका साक्षी है। इसके परिणामस्वरूप इङ्गलैंड तो धन-सम्पत्ति से भर गया और धन तथा व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ उसका साम्राज्य भी संसार के सुदूर देशों तक फैलने लगा। इसके विपरीत अन्य देशों में निर्धनता तथा बेकारी का राज्य बढ़ने लगा और वे देश अपने प्रति दिन के आवश्यक पदार्थों के लिए भी इङ्गलैंड के अधीन हो गये। दूसरा महान् भय यह भी था कि परस्पर युद्ध के समय में अन्य देश आवश्यक पदार्थों से वञ्चित किये जा सकते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज के युद्ध में आर्थिक वंचना (Economic Blockade) से मिलता है। कुछ समय तक तो यह नीति अविरोध चलती रही, परन्तु थोड़े ही समय के बाद अन्य देशों ने इस नीति का विरोध किया और अपने-अपने देशों में उत्पादन-कार्य प्रारम्भ करने की योजना की तथा इङ्गलैंड के व्यापारिक साम्राज्य को भंग करने की चेष्टा की। इस कार्य के दो प्रमुख अंग हुए—पहला यह कि स्वदेशी पदार्थ बनाये जायँ और दूसरा यह कि इङ्गलैंड की प्रतिद्वन्द्विता से स्वदेशी व्यापार तथा व्यवसाय की रक्षा की जाय। बिक्री के साधन, पदार्थों को ले जाने के साधन, बन्दरगाह, महाजनी, बीमा इत्यादि के बग़ैर व्यापार सफल नहीं हो सकता। अतएव अंगरेज़ी जहाज़ कम्पनी, बैंक, महाजनी, बीमा कम्पनी इत्यादि की अवहेलना करके भिन्न-भिन्न देशों ने इन व्यापार-सहायक कार्यों पर भी ध्यान दिया और अपने व्यापार के लिए इस प्रकार की कम्पनियाँ खोलीं। इसके अतिरिक्त इङ्गलैंड की प्रतिद्वन्द्विता से संरक्षण के लिए अंगरेज़ी पदार्थों के बहिष्कार करने की युक्ति भी चलाई गई। देश में खुले हुए नये कारख़ानों को अन्य सहायता के अतिरिक्त देश में माल बेचने की सुविधाएँ दी गईं। विदेशों में बने हुए पदार्थों पर बन्दरगाहों पर भारी कर (Customs duty) लगाया गया, जिससे उनका मूल्य बढ़ जाय और स्वदेशी बने हुए माल के मुक़ाबले उनकी बिक्री न हो सके। इस प्रकार अबाधित व्यापार (Free Trade) की नीति का अन्त हुआ और प्रत्येक देश ने स्वदेश के हित की स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अनुकरण किया, जिसे आर्थिक स्वदेशहित की नीति (Economic Nationalism) कहते हैं। इस रीति के अनुसार प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता की सब चीज़ें अपने ही देश में बनाता है, चाहे इसके लिए उसे मशीन, कच्चा माल अथवा अन्य पदार्थ दूसरे देशों से भले ही लेने पड़ें और इस प्रकार उत्पादित पदार्थ कुछ मँहगे ही क्यों न हों। इसमें मूल सिद्धान्त है राष्ट्र का स्वत्व स्थापित रखना और युद्ध के समय में जन-साधारण की रक्षा तथा पालन का पूर्ण विचार रखना। संरक्षण (Protectionism) की नीति पहले-पहल जर्मनी ने प्रारम्भ की। इस नीति का सबसे बड़ा पक्षपाती जर्मन अर्थशास्त्री लिस्ट था। उसका कथन था कि अबाधित व्यापार-नीति तभी चलाई जाना चाहिए जब प्रत्येक देश समान आर्थिक उन्नति की दशा में हो और पदार्थ-उत्पादन प्राकृतिक सुविधाओं के अनुसार हो तथा किसी देश द्वारा सामयिक अवस्था के अनुकूल अपने हित के लिए न किया जा रहा हो। उदाहरण के लिए यदि इंगलैण्ड लोहा और कोयला का उत्पादन-स्थान होने पर केवल मशीनें बनाकर बेचता और भारतवर्ष जैसे देश उन मशीनों को मोल लेकर अपने मज़दूरों द्वारा कच्चे माल से पदार्थ बनवाते तो अबाधित व्यापार (Free trade) अपेक्षित मूल्य उत्पादन के सिद्धान्त की नींव पर चल सकता था, अन्यथा नहीं। उसका यह भी कथन है कि किसी पदार्थ को केवल कुछ समय पहले बनाने के आधार पर किसी पदार्थ के उत्पादन के लिए, जिसके लिए वहाँ प्राकृतिक सुविधाएँ न हों, कभी किसी देश को प्राकृतिक उत्पादन-अधिकार नहीं दिया जा सकता। इस तर्क का लक्ष्य भी इंगलैण्ड था, क्योंकि वहाँ मशीनें पहले बनने से पदार्थ-उत्पादन जल्दी प्रारम्भ हो गया था, जैसे कपड़े इत्यादि के कारख़ाने। लिस्ट का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह था कि जो पदार्थ अल्प संरक्षण के बाद पूर्ण रूप से उत्पादित हो सकते हैं और प्राकृतिक सुविधाओं द्वारा प्रतिद्वन्द्विता का मुक़ाबिला कर सकते हैं उन पदार्थों के उत्पादन का अधिकार उन देशों को होना चाहिए। इसके आधार पर जर्मनी ने लोहे की मशीनों के कारख़ाने खोले और मशीनें बनाकर नाना प्रकार के पदार्थ बनाना प्रारम्भ कर दिया। उन जर्मन पदार्थों की बिक्री के लिए सम्पूर्ण जर्मन देश सुरक्षित रक्खा गया। फिर जर्मन उदाहरण का अनुसरण फ्रांस, इटली, जापान तथा अमेरिका ने भी किया। इस प्रकार अबाधित व्यापार-नीति का प्रायः लोप-सा हो गया।

दूसरा प्रश्न यह उठा कि इतने उत्पादन करनेवाले देशों को कच्चा माल कैसे और कहाँ से मिले तथा उनके उत्पादित पदार्थों को मोल कौन देश लें? पिछले लेखों में यह विवरण आ चुका है कि मशीन द्वारा उत्पादन तभी सफल हो सकता है जब पदार्थ असंख्य मात्रा में बनाये जायँ। कम अथवा थोड़े पदार्थ बनाने से उनका मूल्य बढ़ जाता है। इसलिए प्रत्येक देश ने अधिक से अधिक पदार्थ

बनाने और सस्ते-से-सस्ते दाम पर बेचने की योजना की। अब इन उत्पादन करनेवाले देशों में पूर्ण रूप से प्रतिद्वन्द्विता चलने लगी। पहले तो कच्चे माल पाने के लिए कृषि-प्रधान देशों से मित्रता बढ़ाने अथवा उन पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा हुई। इस प्रकार के देशों में भारतवर्ष, दक्षिणी अफ्रीका, उत्तरी व पूर्वी अफ्रीका, एशिया के पूर्वी देश, चीन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, भारतवर्ष के दक्षिण के द्वीप इत्यादि हैं। उपजाऊ भूभाग में उत्पादन करनेवाले देशों के निवासी जाकर बसने लगे और वहाँ के आदि निवासियों को दास बनाकर उनसे कच्चा माल पैदा कराने का कार्य लेने लगे। इन भूभागों को उपनिवेश (Colonies) कहते हैं। उपनिवेश तथा अन्य देशों का कच्चा माल पाने के लिए उत्पादन करनेवाले देशों में परस्पर व्यापार-युद्ध के बाद शस्त्र-युद्ध भी होने लगा। गत महायुद्ध और आजकल के महायुद्ध का एक प्रमुख कारण व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता तथा उपनिवेशों पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा है। इसके बाद उत्पादित पदार्थ के बेचने का प्रश्न उठा! उसके लिए ख़रीदार ढूँढे जाने लगे और फिर कच्चे मालवाले देशों को प्राप्त करने के प्रयत्नों से काम लिया गया। इन राष्ट्रों ने साम्राज्य बढ़ाना प्रारम्भ किया। अंगरेज़ी साम्राज्य, जापानी साम्राज्य, जर्मन साम्राज्य, इटली का साम्राज्य, फ्रांस का साम्राज्य—सब उत्पादित पदार्थ बेचने के सुरक्षित बाज़ार हैं जिनको अपने अधिकार में लाने और सुरक्षित रखने की वे देश दिन-रात चेष्टा करते रहते हैं। इस नीति को पूँजीवादी साम्राज्यवाद (Capitalist Imperialism) कहते हैं। इङ्गलैंड ने इस नवीन प्रतिद्वन्द्विता को रोकने के लिए अपने साम्राज्य तथा उपनिवेशों का एक संघ स्थापित किया और यह निश्चित किया कि इस संघ-परिवार के सदस्य एक-दूसरे के प्रति व्यापारिक सहानुभूति तथा व्यापारिक मित्रता रखते हुए राजराष्ट्र अर्थात् इङ्गलैंड को अपने देशों में विशेष व्यापारिक सुविधाएँ दें। उसके बदले में इङ्गलैंड ने भी यह प्रतिज्ञा कि वह संघ-परिवार में सम्मिलित देशों के कच्चे माल को अथवा यदि उनमें कुछ पदार्थ-उत्पादन होता हो तो उसे भी अन्य देशों की अपेक्षा बिक्री की अधिक सुविधाएँ देगा। सारांश यह कि इस साम्राज्य-पारिवारिक संघ द्वारा नये प्रतिद्वन्द्वियों को अँगरेज़ी साम्राज्य के देशों का माल ख़रीदने और अपना बना हुआ माल बेचने से जहाँ तक हो वंचित रक्खा जाय। दूसरे यह कि इस साम्राज्य-परिवार में इङ्गलैण्ड का स्थान फिर उतना ही ऊँचा होगा, जितना कि प्रतिद्वन्द्विता के पूर्वकाल में उसका स्थान संसार में था। इसका कारण यह है कि साम्राज्य-परिवार (Empire-federation) में पदार्थ-उत्पादन करनेवाला बहुतांश में केवल इंगलैण्ड ही है और बाक़ी देश कच्चा माल पैदा करते हैं और उत्पादित पदार्थ मोल लेते हैं। इस प्रकार की योजना से इंगलैण्ड को कच्चा माल मिलना तथा उसका उत्पादित पदार्थ बिक जाना सुरक्षित हो गया। इस नीति को महाराजिक पक्षपात (Imperial preference) की नीति कहते हैं। सन् १९३२ में ओटावा में एक कान्फ्रेन्स अँगरेज़ी साम्राज्य के सब देशों की हुई, जहाँ इस प्रकार का निश्चय हुआ। इसे 'ओटावा-संधि' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रतिद्वन्द्विता में सफल होने के लिए अन्य युक्तियाँ भी निकाली गईं। कई देशों ने अपने उत्पादित पदार्थों का मूल्य दूसरे देशों में सस्ता करने के लिए अपने सिक्के का दर दूसरे देशों के सिक्कों के मूल्य की अपेक्षा राष्ट्रीय नियम द्वारा कम कर दिया, जिससे दूसरे देशों के सिक्के के रूप में उत्पादित पदार्थों का मूल्य कम हो जाय। विदेशी माल का बहिष्कार, विदेशी माल पर कर, विदेशी माल के आने की मनादी, तथा सिक्के के दर का घटाव-बढ़ाव इत्यादि का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अपने देश के हित में अनुकूल बनाने के लिए प्रयोग किया गया। इससे प्रतिद्वन्द्विता ने सिर्फ़ और भी जटिल रूप ही धारण नहीं किया वरन् एक देश दूसरे देश से व्यापारिक विनिमय करने को तैयार हुआ। भारतवर्ष में ऐसा उदाहरण भारत और जापान के रुई-कपड़े के व्यापार में हुआ। ओटावा पैक्ट के अनुसार जब भारतवर्ष में जापानी कपड़े पर कर बढ़ाया गया तब जापान ने भारतवर्ष की रुई न ख़रीदने की धमकी दी। इन पारस्परिक प्रयोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक और नवीनता पैदा कर दी—वह यह कि दो देश एक निश्चित संख्या में दो पदार्थ बदलने लगे। इस प्रकार के समझौते इटली ने पहले प्रारम्भ किये। बाद में इस प्रकार के व्यापारिक समझौते कई देशों में हुए। इसको संख्या-बद्ध व्यापार (Quota System of Trade) कहते हैं। जर्मनी ने भी बहुत-कुछ ऐसा ही नियम बनाया है। वह मशीन इत्यादि देकर उसके बदले में निश्चित संख्या में कच्चा माल इत्यादि ले लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस प्रकार घोर राष्ट्रीय हित की नीति क आधार पर चल रहा है। यह प्रतिद्वन्द्विता यहाँ ही रुककर फिर सहयोग की ओर पलटेगी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कोई और रूप लेगा यह प्रश्न आज के अर्थशास्त्री और शासकों के सामने है।
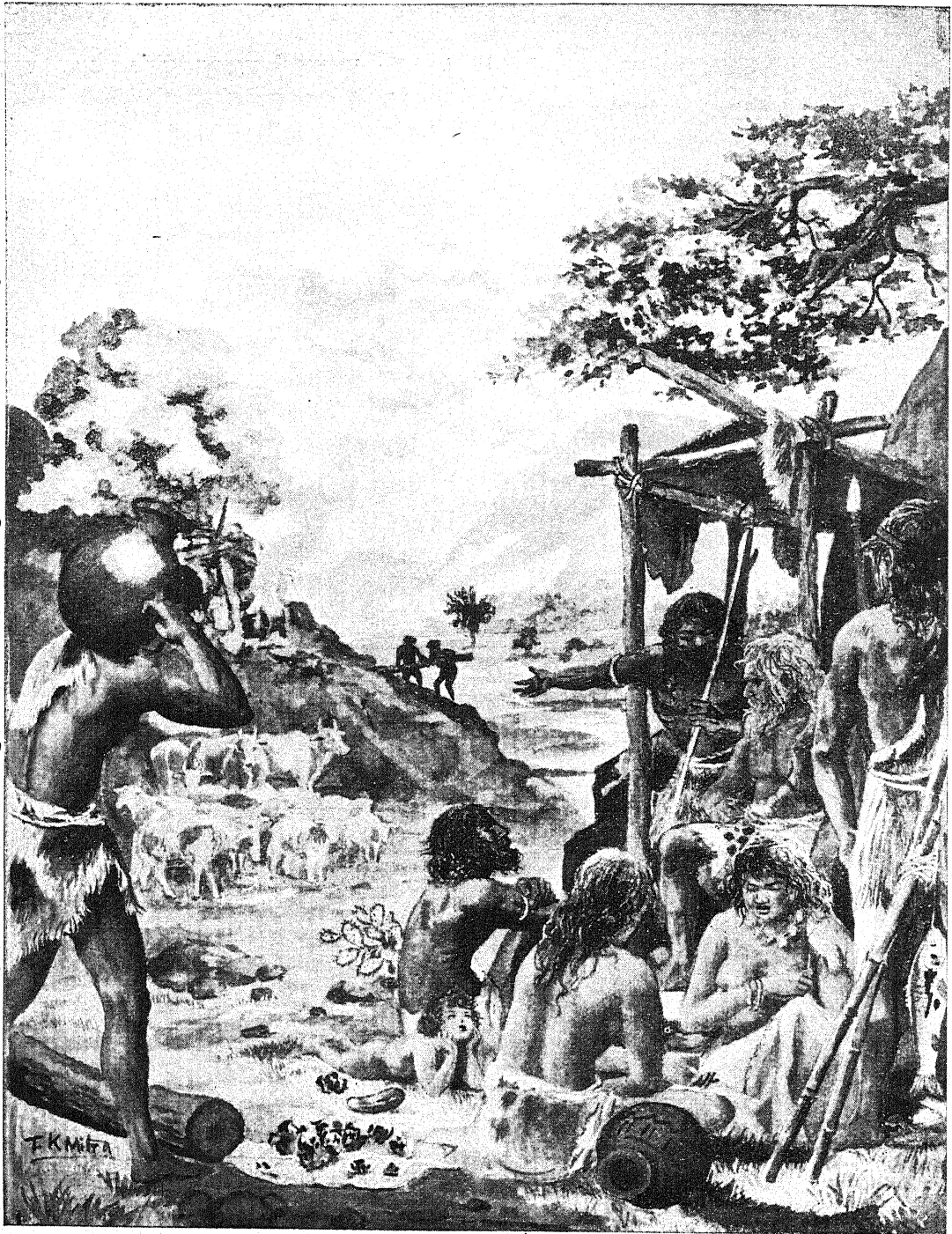
सभी वैज्ञानिक यह मत स्वीकार नहीं करते कि पशु-पालन का कृषि-कार्य से पूर्व ही आविर्भाव हो चुका था। अनेकों का मत है कि एक साथ ही कहीं पर मनुष्य कृषि-कार्य और कहीं पर पशु-पालन करने लगा था। इसके फलस्वरूप जो समाज-विन्यास विकसित हुआ, उसमें शासन तथा संगठन का भार परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति के ऊपर ही पड़ता था, क्योंकि वही सबसे अधिक अनुभवी होता था। इस गोष्ठीपति का शासनदण्ड समाज का न्यायदण्ड समझा जाता था। इस नवीन समाज में श्रमविभाग विशेष-रूप से प्रस्फुटित हुआ। पुरुषों ने कृषि और पशुरक्षा का भार लिया, स्त्रियाँ कपड़ा बुनने, सीने आदि का काम करने लगीं। इस प्रकार समाजग्रंथि और भी मज़बूत हो गई।
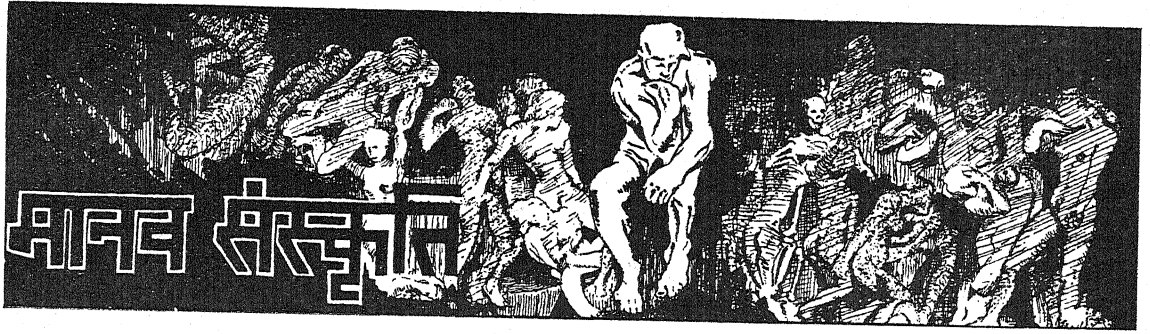
सभ्यता का जन्मस्थान

प्राचीन काल में भूमण्डल तथा आकाश दोनों ही अधिकतर चञ्चल थे। जैसे-जैसे जलवायु का परिवर्त्तन होता वैसे ही भूकम्प, पर्वत-उपत्यकाओं का उत्थान एवं समतल भूमि का पतन भी ख़ूब होता था। साथ ही पृथ्वी के हरे आच्छादन, जीव-जन्तुओं के समावेश एवं प्रदेश विशेष के विचरण में भी परिवर्त्तन उपस्थित होते। जलवायु का यह परिवर्त्तन प्रायः ईसा से पूर्व दस हज़ार वर्ष तक चलता रहा। इस समय आदिमनुष्य का पृथ्वी पर आविर्भाव हो चुका था तथा वह इधर-उधर घूम भी रहा था। उस समय वह वन्य पशुओं का समधर्मी था। पत्थर, लाठी एवं अग्नि का व्यवहार जानकर तथा पालू कुत्ते की सहायता पाने पर भी उसका जीवन अभी बिलकुल अनिश्चित एवं आशङ्कापूर्ण ही था।

अनुमानतः ईसा से प्रायः छः हज़ार वर्ष पूर्व पृथ्वी के जलवायु में समता दिखाई पड़ना आरम्भ हुई। तभी उत्तर का हिमप्रदेश अन्तिम बार मेरु की ओर पलटा था और उत्तरी अफ़्रीका, उत्तरी सीरिया, इराक़, ईरान तथा पंजाब का प्रदेश शुष्क होना आरम्भ हुआ था। पहले अटलाण्टिक महासागर की ओर से जो आँधी और तूफ़ान आकर इस सारे प्रदेश को तराबोर करते हुए हरी घास तथा वनों से आच्छादित करके इसे श्यामल बना देते थे वे अब उत्तर की ओर घूम गए। जो प्रदेश पहले वन तथा घासफूस से आच्छादित था वही अब धूसर प्रान्त एवं मरुभूमि के विस्तार से समाच्छन्न हो उठा।

जीवजन्तुओं में भी उस समय एक महान् परिवर्त्तन हुआ। इसी परिवर्त्तन के फलस्वरूप नील, फ़रात एवं सिन्धु की उपत्यका के प्रदेश में मनुष्य की आदिम सभ्यता का उद्भव हुआ।

तापवृद्धि तथा मरुभूमि के विस्तार के साथ-ही-साथ वनभूमि संकुचित होने लगी एवं वे वनजन्तु जिनका शिकार करके प्रागैतिहासिक मनुष्य जीवन-निर्वाह करते थे मरुद्यान अथवा नदियों द्वारा सिंचित विस्तीर्ण नीची भूमि की तलाश में निकल पड़े। पहले जहाँ विस्तृत घास के मैदान थे वहाँ अब छोटी-छोटी सूखी घास अथवा छाया और जल से रहित प्रदेश दिखाई पड़ने लगे। वहाँ पर जीवन धारण करना क्रमशः असम्भव होने लगा। अनेक वनजन्तु दक्षिणी ग्रीष्ममण्डल की ओर अथवा उत्तरी योरप की ओर, जहाँ अरण्यभूमि ख़ूब विस्तृत थी, भाग गए। उनके पीछे-पीछे मनुष्य भी भागा। बहुतेरे वन्य जन्तु तथा मनुष्य अफ़्रीका से सिन्धु-प्रदेश तक लगातार प्रतिकूल प्रकृति के साथ युद्ध करते हुए परास्त होकर मृत्यु-मुख में पतित हुए, अथवा इस प्रदेश में जहाँ-कहीं मरुद्यान या स्रोतस्वती नदियाँ थीं वहीं पर चारों ओर से आ-आकर इकट्ठा होने लगे।

इन मरुद्यानों के चारों ओर या विशाल नदियों की उपत्यका, डेल्टा अथवा जलप्लावित भूमि में मनुष्य तथा पशु के एक साथ गमन और निवास के फलस्वरूप मानव की आदिम संस्कृति का जन्म हुआ।

मनुष्य के इतिहास में एक महान् आश्चर्य की कथा यह है कि जिस प्रदेश में उसके पालतू गाय-बैल, बकरी-भेड़ और सुअर इत्यादि के पूर्वज वन्य अवस्था में इधर-उधर घूमा करते थे, उसी प्रदेश में उसने जंगली घास जैसे पौधों से जौ, गेहूँ इत्यादि अनाज उत्पन्न करना सीख लिया। बहुत सम्भव है कि पशु-पालन तथा कृषि-कार्य प्रकृति की दो यमज संतान हों, जो ईसा से प्रायः छः या सात हज़ार वर्ष पूर्व मरुद्यान के आस-पास या किसी विशाल नदी की तटभूमि अथवा डेल्टा में एक साथ ही उत्पन्न हुई हों।

पशु-पालन किस रूप में सर्वप्रथम हमारे सामने आया,

यह बहुत-कुछ कल्पना-प्रसूत कथा है। किन्तु इतना तो ठीक ही है कि मनुष्य की ज्ञानकृत चेष्टा सदा ही इसके पीछे नहीं रही।

सभी वैज्ञानिक यह मत स्वीकार नहीं करते कि पशु-पालन का कृषि-कार्य से पूर्व ही आविर्भाव हो चुका था। अनेकों का मत है कि एक साथ ही कहीं पर मनुष्य कृषि-कार्य तथा कहीं पर पशु-पालन करने लगा। यही नहीं प्रत्युत् इनके मत में कृषि-कार्य सम्भवतः कुछ पहले ही आरम्भ हुआ हो।

बहुत से पण्डितों का मत है कि कुत्ता निएनडरथल मनुष्य का साथी था और कुत्ता ही प्रथम गृहपालित पशु भी है। कुत्ता मनुष्य के खाने में से बचे हुए अंश से अपनी क्षुधा-शान्ति करने की आशा से उसके साथ-साथ रहता था। क्रमशः उसने अपनी हिंस्रवृत्ति छोड़ दी और मनुष्य की प्रीति एवं स्नेह का भाजन बन गया। मनुष्य ने भी दूसरे हिंस्र पशुओं के साथ युद्ध करने के लिए उसे अपने अग्रगामी एवं सतर्क सहचर के रूप में स्वीकार कर लिया। कुत्ते की भाँति के अन्य अर्द्धवन्य एवं अर्द्धपालित पशु या पशुदलों को मनुष्य अपने निवासस्थान के आस-पास रहने देने में बाधा नहीं देता था, क्योंकि खाना न मिलने पर यही पशुदल तत्कालीन मानव के लिए एक सुरक्षित एवं सञ्चित भोजन-सामग्री का काम देता था।

मनुष्य इन पशुओं को भय नहीं दिखाता था, न उनकी हत्या ही करता था। वह बहुत कम अवस्था के पालने-पोसने योग्य पशु-शावकों की भी हत्या नहीं करता था। मालूम पड़ता है, इसी प्रकार पशु-पालन का आरम्भ हुआ। मनुष्य जब पहले पहल परम दुर्दमनीय साँड इत्यादि भयानक जन्तुओं को छाँट-छाँटकर मारने लगा, तभी उसने पशु-पालन में निर्वाचन आरम्भ कर दिया। इन पशुओं की अपेक्षा इनकी सन्तति क्रमशः वश करने में अधिक उपयुक्त सिद्ध होने लगी। पशुओं को मनुष्य के साथ रहने से भोजन तथा जीवन-रक्षा मिली, और मनुष्य को पशुओं से भोजन, वस्त्र एवं अपनी स्त्री-जाति के लिए सुलभ स्नेह-सामग्री प्राप्त हुई।

कभी किसी मातृहीन गोवत्स को भी आदिम मानव के घर में आश्रय मिला ही होगा। उस गोवत्स को उस घर की किसी संतान से बिछुड़ी हुई जननी ने स्नेह से बिलकुल अपना लिया होगा। इस प्रकार यह धारणा होती है है कि मनुष्य ने पशुओं की रक्षा करना केवल उपयोगितावश ही नहीं स्वीकार किया वरन् व्यक्ति एवं समाज की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनेक धाराओं ने आ-आकर मनुष्य और पशु के सम्बन्ध को सुदृढ़ कर दिया है। उत्तर एशिया में 'वल्गा' नाम का हरिण कदाचित् मनुष्य द्वारा सर्वप्रथम गृहपालित पशु था। इसी के अनुकरण के फलस्वरूप बकरी, गाय इत्यादि भी बाद में वशीभूत कर ली गईं।

मनुष्य के साथ पशुओं के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति में वशीकरण एवं लालन-पालन का प्रभेद मान लेना परम आवश्यक है। सम्भव है, किसी जगह शिकारी मनुष्य ने बहुत-से वन्य जन्तुओं को, पहले कभी, घेर रक्खा हो। उनमें से जो निकल भागे वे बच गए। जो उस घेरे में घिरे रह गए उनकी सन्तति अपेक्षाकृत अधिक वश्य हो गई। क्रमशः उनमें ऐसा गुण दिखाई पड़ने तथा वंशक्रम से सञ्चारित होने लगा कि मनुष्य के द्वारा वे अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक शिक्षित तथा परिचालित होने लगे। युगों तक इसी भाँति दुर्दमनीय अवस्था में बँधे या घिरे रहने के पश्चात् वे क्रमशः मनुष्य के वशीभूत और गृहपालित हुए होंगे। मनुष्य ने उनका लालन-पालन करके उन्हें अपना आहार बनाया, उनका वाहन-रूप में व्यवहार किया, उनके द्वारा हल और गाड़ी खिंचवाई तथा दूसरों के साथ संग्राम में अपना सहायक बनाकर उनको युद्ध-शास्त्र तक की शिक्षा दे दी।

जानवरों में कुत्ता, घोड़ा तथा हाथी सबसे ज़्यादा आसानी से सिखाये जा सकते हैं। उनका उपयोग मनुष्य के नित्य-प्रति के श्रम को कम करने, अथवा किसी कठोर दायित्वपूर्ण कार्य में सहायता देने में युगों से हो रहा है। युद्ध में घोड़ा अथवा हाथी ने कितने ही सेनापतियों की प्राणरक्षा की है। सेना में तथा गुप्तचर के कार्य में कुत्तों ने हमें आश्चर्य में डाल देनेवाली निपुणता एवं शिक्षा के अनुसार चलने की क्षमता दिखाई है। जन्तुओं की यह नमनीयता बहुकालव्यापी निर्वाचन एवं संकीर्ण क्षेत्र में बिशिष्ट प्रकार के जन्तुओं की उत्पत्ति का ही फल है।

मनुष्य ने बैल को हल में जोतकर पहले अपनी संस्कृति को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। पशु से चलनेवाले हल के व्यवहार से पहले कृषि के द्वारा बहुसंख्यक समाज के लिए खाद्य-सामग्री का जुटाना असम्भव था। ईसा से ५००० वर्ष पूर्व बेबीलान में बैल, बकरी, मेष तथा सुअर पाले जाते पाये गए हैं। उसी प्रकार चीनी सभ्यता में एक राजाज्ञा में घोड़ा, बैल, मुरगी, सुअर, कुत्ता तथा भेड़ के पालन तथा उत्पादन का संकेत पाया जाता है। यह राजाज्ञा ईसा से कई शताब्दी पूर्व की है। इसी प्रकार सिन्धुतटस्थ सभ्यता (ई० पू० ३२५०—२७५०) में बैल, भैंसा, एक कूबड़-

आज से ५०००० वर्ष पूर्व चतुर्थ हिमयुग की चरम सीमा के समय एशिया, योरप, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया की रूपरेखा

धरती ----
सागर ----
बर्फ ----
आधुनिक भूमिसीमा........
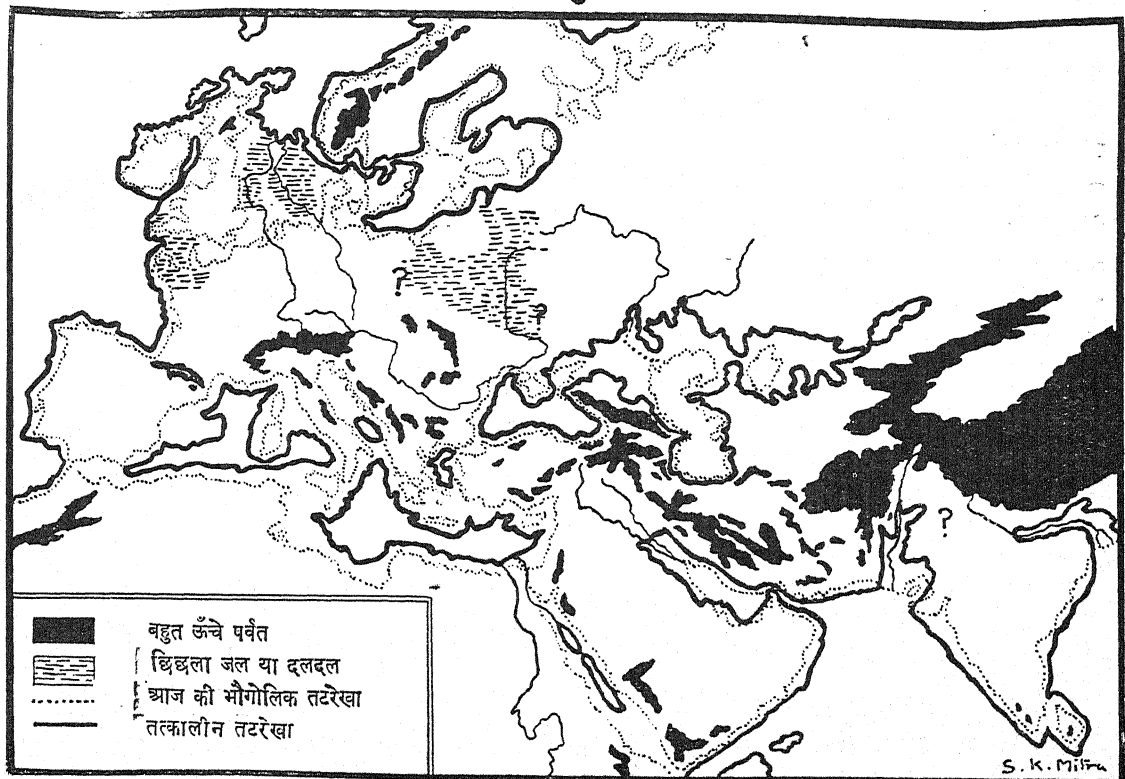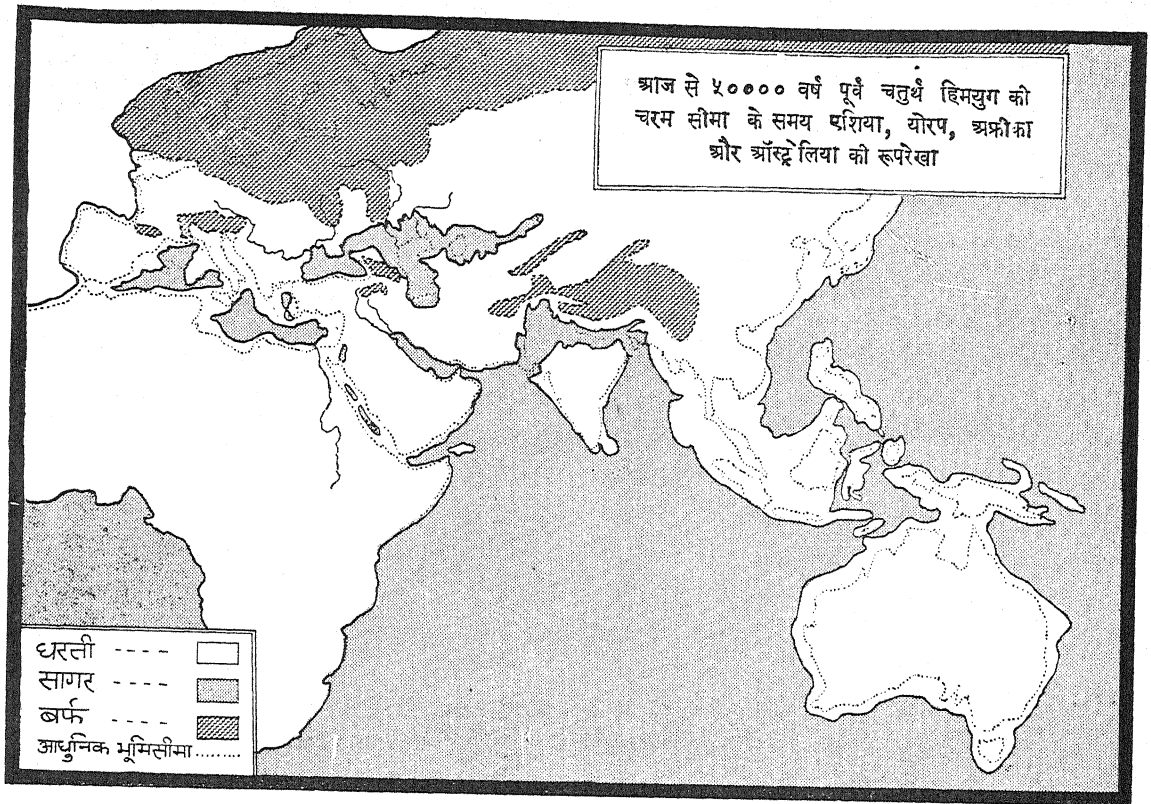
(ऊपर) अंतिम या चतुर्थ तुषार-युग की चरम अवस्था के समय पुरानी दुनिया का रूप। इस समय पृथ्वी पर निएनडरथल मानव विचरते थे। क्रमशः हिम का आवरण कम होने लगा और अनेक भाग उष्ण होने लगे। (नीचे) उत्तर-पाषाण युग (३५ से २५ हज़ार ईस्वी पूर्व) में धरातल का रूप-परिवर्त्तन। हिम-प्रलय समाप्त हो गया था। इन दिनों क्रोमैगनन जाति के असली मानव पृथ्वी पर विचरने लगे थे !

वाला बैल, सुअर, भेड़ तथा बकरी इत्यादि पशुओं के पाले जाने के चिह्न मिले हैं। विशेषज्ञों का मत यह है कि सिन्धु-तट पर अनेक पशुओं के सर्वप्रथम गृहपालन का परिचय पाया जाता है। सिन्धु प्रदेश ही बैल-गाय, भेड़-बकरी, कुत्ता, भैंस-भैंसा तथा ऊँटों के पालन का प्रधान एवं सम्भवतः एकमात्र केन्द्र था। भारतीय कूबड़वाला बैल एवं छोटे-छोटे सींगवाला बिना कूबड़ का बैल हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों में पाई जानेवाली मुद्राओं में अङ्कित पाया गया है। ये दोनों ही नर्मदा-तीरस्थ शिवालीक बैल के वंशधर हैं। सुपण्डित लिण्डेकर का मत है कि भारतीय ककुद्-वृष या कूबड़वाला बैल बेबीलान और पाश्चात्य प्रदेशों में पाले जानेवाले बैलों का पूर्वज है।

एक मुद्रा में एक सींगयुक्त देवता—जिसे कुछ लोग प्रागैतिहासिक शिव अथवा पशुपति समझते हैं—अङ्कित पाया गया है। उसके चारों ओर हाथी, बाघ, भैंसा, गैंडा एवं हरिण इत्यादि चित्रित हैं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि सिन्धु-उपत्यका में जहाँ-जहाँ मनुष्यों ने कृषि-कर्म एवं पशुपालन आरम्भ कर दिया था वहाँ पर नगरवासी तथा वाणिज्य-निपुण हो जाने पर भी लोग पशुपति को ही देवता मानते थे तथा उसे पूजते थे।

मनुष्य का सबसे पहला पालतू जानवर संभवतः कुत्ता ही था।

सैन्धव सभ्यता में गाड़ी थी, पर उस गाड़ी को खींचने-वाला घोड़ा न था। बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष में घोड़ा सर्वप्रथम आर्यों के साथ ही मध्य एशिया से आया हो। वैदिक सभ्यता में घोड़े की बड़ी मान-मर्यादा थी। अनेक यज्ञों में—विशेषतः बाद के युग में प्रचलित अश्वमेध यज्ञ में—राजा-महाराजाओं के बीच घोड़े के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का बहुत उल्लेख मिलता है। पहले पशुपालन के साथ धर्म तथा जादू आ मिला था। कुछ लोगों का ख़याल है कि बड़े सींगोंवाले बैल का मुख चन्द्रमण्डल-सा दिखलाई पड़ता है। उनका मत यह है कि चन्द्रपूजा के साथ बैल के लालन-पालन का सम्बन्ध था। सैन्धव सभ्यता में, बहुत सम्भव है, ककुद्वृष का किसी धर्मानुष्ठान-पद्धति के साथ सम्बन्ध रहा हो। दक्षिण-पूर्व एशिया में सुअर तथा मुरग़ी की रक्षण-पालन की प्रथा के साथ असभ्य जातियों के पशु-पक्षियों पर आश्रित धर्म तथा समाज-व्यवस्था का सम्बन्ध पाया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की रीति-नीति तथा धर्म पशु-पालन में सुविधा के विचार से बहुत-कुछ सम्बद्ध हैं, तथा पशुओं को भी वह इन्हीं धर्म आदि की कसौटी पर कसता रहा है।

मानव सभ्यता के इतिहास में एक बड़े आश्चर्य की बात यह है कि ईसा से ७०००—६००० वर्ष पूर्व पृथ्वी की जलवायु में परिवर्तन हुआ तथा तुषार-युग के अन्त में गर्मी बढ़ने लगी उसके साथ-ही-साथ जब मनुष्य और अन्य जन्तु पानी तथा हरियाली की खोज में मरुद्यानों, नदियों की घाटियों अथवा डेल्टों में इकट्ठा होने लगे तभी एक साथ ही कृषि तथा पशु-पालन का आरम्भ हुआ। आज के गृहपालित पशुओं के दुर्दमनीय पूर्वज ठीक उन्हीं स्थानों में स्वतंत्रतापूर्वक विचरण किया करते थे जिनमें मनुष्यों की खाद्य-सामग्री वनप्रान्तरों में नैसर्गिक अवस्था में ही पाई जाती थी। मिस्र, बेबीलान एवं सैन्धव प्रदेशों में मनुष्यों ने जब अरण्यभूमि की कमी के साथ-ही-साथ शिकार के अभाव का भी अनुभव किया तथा उन प्रदेशों में कृषिकर्म भी आरम्भ कर दिया, तभी उसने पशु-पालन भी शुरू कर दिया। यदि एक महान् प्राकृतिक परिवर्त्तन न हो जाता तो वन्य-जन्तु मनुष्यों के कृषिक्षेत्र तथा निवासस्थानों के इतने पास आकर उसके बन्धन में कभी न पड़ते। मनुष्यों की ही भाँति ये जंतु भी मरुपीड़ित होकर नदी की घाटी अथवा तटभूमि में मनुष्यों के निवासस्थानों के पास ही भोजन की तलाश करते हुए दल-के-दल आ उपस्थित हुए। मनुष्य ने भी अपनी आवश्यकतानुसार शीघ्र ही उन्हें पालना सीख लिया तथा क्रमशः अपने घर में, खेत में तथा धर्मोत्सवों पर संगी के रूप से उन्हें भी अंगीकार कर लिया।

इस प्राचीन काल में मिस्र, बेबीलान तथा सिन्धु प्रदेश पहले-पहल गरम होने पर भी आज-कल जैसे उष्ण नहीं हुए थे। प्राचीन मिस्र एवं सिन्धु प्रदेशों में उन सब पशुओं का परिचय पाया जाता है, जो निचले नम प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में रह ही नहीं सकते। मिस्र में जल-

हस्ती, मगर, हाथी और हिरण पाये जाते थे, एवं सिन्धु प्रदेश में प्राचीन काल में हाथी, बाघ, भैंसा, हरिण तथा गेंडा पाये जाते थे। सिन्धु प्रदेश के किरथर पर्वत के पूर्व भाग में हाथी तथा गेंडा के कङ्काल पाये गए हैं।

भारत में सिंधु प्रदेश के मोहनजोदड़ो नामक स्थान में पाई गई सिन्धु-तटवर्त्ती प्राचीन सभ्यता की कुछ मुद्राएँ, जिन पर क्रमशः एक कूबड़वाला बैल और सींगधारी पशुपति देवता के चित्र बने हुए हैं। ये मुद्राएँ ५-६ हज़ार वर्ष प्राचीन हैं (चित्र 'आर्कियालाजिकल सर्वे आफ़ इंडिया'।)
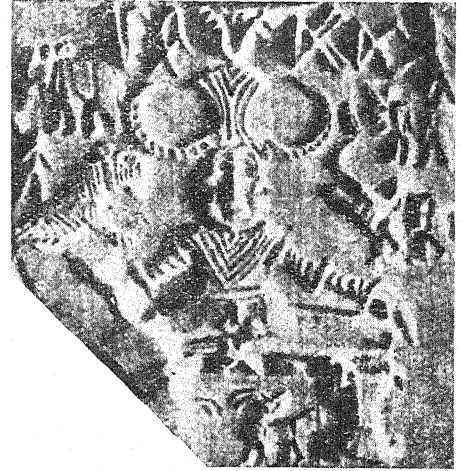
तात्पर्य यह है कि यह विराट् प्रदेश जिस समय मरुमय होना आरम्भ हुआ था उसी समय मनुष्य ने एक साथ ही कृषि एवं पशुपालन का सूत्रपात किया—एक साथ ही उसने हलधर एवं पशुपति बनकर अपने तथा पशुओं के जीवन को इस महान् प्राकृतिक विप्लव से बचाया। कहीं-कहीं मनुष्य ने एक ही साथ खाद्य अनाज एवं खाद्य पशु को पाया और कहीं-कहीं उस मरु-प्रदेश में उसने अनेक पशुओं को बाँधकर उनका पालन-पोषण करना आरम्भ कर दिया। जहाँ पर वह केवल पशुओं के ऊपर ही पूर्णरूपेण निर्भर करता था वहाँ पर घर अथवा ग्राम न बनाकर वह इधर-उधर घूमने लगा। इसका कारण यह था कि पशुदल का पालन करने के लिए ऋतु-परिवर्त्तन के साथ-साथ जैसी-जैसी घास-पत्ती शुष्क अथवा हरी होती, वैसे ही उष्ण से नम प्रदेश में पशुदल लेकर घूमते फिरना पड़ता था। सभ्यता के इतिहास में इन भ्रमणकारी पशु-पालकों की देन कुछ कम नहीं है। जब मनुष्य ने पशु-दल से दूध तथा मांस का अक्षय भाण्डार पा लिया तब

मसोपटामिया में प्राप्त सुमेरियन सभ्यता के युग की एक गौ-मूर्त्ति। इन उदाहरणों से हमें आरंभिक सभ्यताओं में मनुष्य और पाले गए पशुओं के संबंध का आभास मिलता है।

उसके पुराने शिकारी-जीवन की अनिश्चितता तथा आशङ्का दूर हो गई। फलस्वरूप अधिक तथा पुष्टिकर भोजन प्राप्त होने के साथ ही जनसंख्या भी शीघ्र ही बढ़ने लगी। लोकबल के साथ ही मनुष्य का समाजविन्यास भी दिखाई पड़ने लगा। ग्रीष्म अथवा शीतकाल में सब दलबल को लेकर दूर देशान्तर जाना होता था। सुव्यवस्था के लिए शासक तथा शासन, आज्ञा और उसका पालन, ये बातें परम आवश्यक हैं। हिंस्र जन्तुओं अथवा शत्रुओं से अपने पशुओं की रक्षा करने के लिए भी अनुशासन एवं संगठन की नितान्त आवश्यकता है। शासन तथा संगठन का भार परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति के ऊपर ही पड़ता था, क्योंकि प्रकृति-चक्र, ऋतु-परिवर्त्तन एवं पशुरक्षा तथा उनकी गति-विधि के सम्बन्ध में उनका ही ज्ञान अधिक परिपक्व समझा जाता था। वयोवृद्ध गोष्ठीपति की आज्ञा का उल्लंघन करने का किसी को साहस नहीं हो सकता था। उसका शासन-दण्ड समाज का न्यायदण्ड समझा जाता था। सिर्फ़ इतना ही नहीं, महामान्य गोष्ठीपति का विचार जिस प्रकार न्यायानुमोदित होता था, वैसे ही उसका त्याग भी असीम होता था। पशुओं तथा अपनी गोष्ठी के लिए ही उसका जीवन उत्सर्ग होता था। इस पशुपालक समाज में श्रमविभाग विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ। पुरुषों ने पशुरक्षा का भार लिया। स्त्रियाँ ऊन, चमड़ा इत्यादि लेकर उनसे कपड़े तथा तम्बू बुनती थीं। पशुपालकों में भाँति-भाँति की दस्तकारियों का उद्भव हुआ तथा अधिकतर ये सब स्त्रियों के शिल्प ही समझे जाते थे। बच्चे गाय अथवा भेड़ के बच्चों के साथ खेला करते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवस्था के लोगों के भिन्न-भिन्न कार्यों में लग जाने से समाजग्रन्थि और भी मज़बूत हो गई। भेड़ पालनेवाले समाज में आर्थिक तथा सामाजिक वैषम्य कुछ अधिक नहीं दिखाई पड़ता। वरन् जब शत्रु के आक्रमण अथवा प्रकृति की क्रूरता के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपना सर्वस्व गोधन खो बैठता था तब उनके बीच धनी एवं निर्धन का भेद ही न रहता था। पशुपालक जातियों का अतिथि-सत्कार सदा ही प्रसिद्ध रहा है। लम्बे-लम्बे मैदानों अथवा वनों में यदि कोई रास्ता भूल जाय अथवा अपनी गोष्ठी से विलग हो जाय तो बिलकुल ही निःसहाय हो जाता है। समाज में अतिथि-वत्सलता तथा औदार्य्य न होने से उसकी रक्षा एकान्त असंभव ही समझिए। इसके साथ ही एक सामाजिक सद्भाव तथा सौहार्द्र, एवं आपद्-विपद् में पारस्परिक सहानुभूति पशुपालक समाज में विशेष रूप से पाई जाती है। इसी पर मानव संस्कृति की गणतान्त्रिकता की भित्ति स्थापित हुई है। पशुपालक के अविराम, नियमानुगत स्थान-परिवर्त्तन ने इसको सुदृढ़ बनाया है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आत्मनिर्भरता, साहस, तथा स्वातन्त्र्य का आविर्भाव होता है। मध्य तथा पश्चिम एशिया की सभी ख़ानाबदोश जातियों की मन्त्रणा-सभा में गणतान्त्रिकता का प्रभाव प्राचीन काल से स्पष्ट लक्षित होता आया है। सुप्रसिद्ध योद्धा मंगोलराष्ट्रनायक चंगेज़ ख़ाँ का प्रभुत्व सम्पूर्ण मंगोल जाति के निर्वाचन तथा अनुमोदन की भित्ति पर ही प्रतिष्ठित हुआ था।

पशुपालकों ने जब पशुओं के आगे अथवा पीछे चलना छोड़कर वाहनरूप से उनका प्रयोग करना सीख लिया, तब न केवल उनकी गति ही बढ़ गई, वरन् सब ओर से वे चंचल और सतत चलायमान हो गए। विक्षुब्ध ख़ानाबदोश जातियों का पूर्व में चीन तथा भारत की घाटियों में, और पश्चिम में डैन्यूब की घाटी से लगाकर रूस तथा हंगेरी तक प्रबल आँधी की भाँति आवागमन एक ज़माने से योरप तथा एशिया के जनमण्डल को उद्वेलित करता रहा है। कितने ही राज्य और साम्राज्य इस प्रवाह द्वारा स्थापित तथा ध्वंस हुए हैं। रेगिस्तानी मैदान तथा कृषि-योग्य भूमि का सीमा-प्रदेश ही, प्राचीन काल से, राष्ट्रीय उलटफेर की केन्द्रभूमि रहा है।

ख़ानाबदोश जातियाँ सहज ही स्थायी रूप से कहीं रहने लग जाना नहीं पसन्द करतीं। कृषि-कार्य के लिए जिस चंचलतारहित अविचलित भाव की आवश्यकता है उसको वे ग्रहण नहीं कर पातीं। दूसरे, निरीह कृषक को हराकर उनका खेती से कमाया धन बड़ी आसानी से वे लूट ले सकती हैं। किसानों तथा पशुपालकों का द्वन्द्व परम्परागत है। अरब इतिहासकार इब्न-ख़ालदून कृषकों तथा पशुपालकों की खाद्य-समस्या पूर्ण करने के इस चिरपरिचित कलह का उल्लेख करके राष्ट्र की प्रथम अभिव्यक्ति का भौगोलिक निर्देश करता है। यहाँ तक कि आधुनिक युग में जब कृषक व पशुपालक एक ही राष्ट्र के अंगीभूत होकर शान्तिपूर्वक स्वतंत्रता से अपना जीवन बिताते हैं तब भी कृषि तथा पशु-पालन का झगड़ा अक्सर राजनीति को चञ्चल कर देता है। स्विडन और स्विटज़रलैण्ड में यह विरोध विशेष रूप से दिखाई पड़ता है।

ख़ानाबदोश जातियाँ मिश्रित जातियाँ हैं। उनके शौर्य, वीर्य तथा पौरुष का प्रधान कारण उनका रक्त-मिश्रण है। पश्चिम तथा मध्य एशिया के मैदानों में जिन जातियों ने

जन्म ग्रहण किया है, उनकी छाप योरप तथा एशिया की तमाम जातियों के देह तथा मस्तिष्क पर स्पष्ट देखी जा सकती है। केवल यही नहीं, पाश्चात्य जगत् में डैन्यूब की घाटी में होकर ख़ानाबदोश जाति ने योरप में पशु-पालन की रीति तथा एशिया के भाँति-भाँति के खाद्य अनाजों को पहुँचा दिया है। योरप में पशु-पालनमिश्रित कृषि की रीति ख़ानाबदोश जाति ने ही चलाई है। साथ ही इनका स्वाधीन कर्त्ताधीन पारिवारिक अनुष्ठान तथा समूहतन्त्र भी वहाँ पर चल पड़ा। इस समय भी बालकान प्रदेश तथा दक्षिण रूस में ख़ाना-बदोश जाति में पाया जानेवाला पारिवारिक व सामूहिक जीवन व्यक्ति के जीवन को नियंत्रित करता है। एशिया खण्ड में भी ऐसा ही हुआ। ख़ानाबदोश जातियों का रक्त इस समय भी चीन तथा भारतवर्ष की समतल भूमि के अनेक किसानों के वंश में पाया जाता है। अनेक स्थानों में कर्त्तानुगामी परिवार व गोष्ठी का स्वातंत्र्य एवं उसकी भित्ति पर गणतान्त्रिकता की प्रतिष्ठा अब भी किसी प्राचीन भूले हुए सतत भ्रमणशील जीवन की सूचना देती है।

इसी प्रकार एशिया के मैदानों और मरुभूमि ने दूर-दूर की जातियों की देह और प्रकृति, तथा उनके आर्थिक व सामाजिक जीवन को नियंत्रित कर दिया है।

धर्म तथा नैतिक जीवन के ऊपर भी उनका प्रभाव कुछ कम नहीं पड़ा है। भ्रमणशील मानव को रात-रात और दिन-दिन भर अविराम रूप से अपनी श्रान्तिकर मन्थर यात्रा ऐसे मैदानों में होकर करना पड़ी, जहाँ कोई वृक्ष, पहाड़ अथवा बस्ती देखने को भी न मिल सकती थी। दिन भर के परिश्रम के बाद उसे थोड़ा-बहुत विश्राम का जो समय मिलता उसमें अपने आप ही उसका मन अतीन्द्रिय की ओर चल पड़ता। सीमाहीन, वर्ण-वैचित्र्यहीन धूसर प्रान्तर को पार करके उसकी चिन्ता अनादि तथा अनन्त की ओर जा पहुँचती। रात्रि में ग्रहों, चन्द्र, तारा इत्यादि का उदय एवं अस्त, तथा उनका उत्तरायण से दक्षिणायन की ओर गमन भी उसके मन में अनन्त की भावना ही जाग्रत करता। रात्रि के निविड़ अन्धकार में उसकी निद्राहीन आँखों में होनेवाला आकाश-स्थित सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा इत्यादि का नियमित नृत्य अनन्त को विस्मय की सीमारेखा से खींच लाकर एकबार उसके हृदय के भीतर पहुँचा देता। इस भ्रमणकारी की दृष्टि में अनन्त एक तथा दूरवासी परम सन्निकट प्रतीत होते।

पशुपालक की निर्वाचन तथा उत्पादन रीति पशुओं का उत्कर्ष-साधन करती है। धीरे-धीरे पशुपालक के हृदय में मानव-जाति की चरम पूर्णता का स्वप्न तथा आदर्श जगता है। पशुपालक मानव की पूर्णांगता के प्रति श्रद्धावान् हो जाता है, एवं उस चरम उत्कर्ष के लिए एक व्याकुल प्रतीक्षा उसके हृदय को उद्वेलित कर देती है। मनुष्य और पशु की वृद्धि एक-दूसरे पर निर्भर है, यही अन्योन्य सम्बन्ध अतीत तथा वर्तमान में होता हुआ भविष्य तक फैला हुआ है। इससे मनुष्य का मनोभाव परिवर्त्तित होता है। भेड़ पालनेवाले तथा भेड़ें एक ही जीवनसूत्र में बँधे हुए हैं। भगवान् की कृपा तथा देवदूत की मध्यस्थता में विश्वास, विश्वशक्ति में परमकल्याण का आदर्श इत्यादि भाव पशु-पालक समाज में सहज ही आ जाते हैं। गड़रिया के भेड़ के प्रति स्नेह एवं कोमल व्यवहार को केन्द्र बनाकर धर्म का यह विशाल आदर्श उठ खड़ा होता है कि परम कारुणिक देवता ने अपने उपासक के लिए जीवन उत्सर्ग कर दिया है। सभी पशुपालक जातियों ने, विश्व के धर्म के इतिहास में, मानव व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष, उसके विपुल प्रसारित जीवन के अनवच्छेद, मनुष्य के साथ देवता के परम प्रेम व मिलन-सम्बन्ध को जिस प्रकार प्रकाशित किया है, संसार की और किसी जाति ने वैसा नहीं किया। अनन्त काल, निरवधि जीवन, विपुला पृथ्वी, प्राणी के साथ प्राणी का ऐक्य सूत्र में ग्रथित होना, इन सब भावों को पशुपालक ने अपने नित्यप्रति के जीवन में जिस अनुराग व उद्वेग के साथ अनुभव किया था, वह केवल पशुपालक समाज के ही विकास व समृद्धि का कारण नहीं हुआ, वरन् विश्वमानव के लिए भी यह उसका एक अपूर्व दान है। मानव के धर्मानुशीलन में साधन-पथ अथवा कर्म्म-मार्ग की ओर संकेत अनेक धर्म्मों में पाया जाता है। महा-जनों का पदाङ्कित मार्ग, ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, व कर्म्म-मार्ग इन सबकी ही कल्पना व आदर्श विश्वमानव को पशुपालक का ही मोहक दान है। संस्कृति के इतिहास में पशुपालक कब का लुप्त हो चुका, फिर भी वर्तमान संस्कृति के अनुष्ठान व व्यवहार, नीति व धर्म ने उसकी अभिज्ञता का यत्न के साथ पोषण कर रक्खा है। मानव देह में जिस प्रकार अनेक अस्थियाँ एवं शिराएँ हैं, जो उसके विगत जैविक अभिव्यक्ति की साक्षी हैं, उसी प्रकार मानव-संस्कृति के मर्म-मर्म में प्राचीन अवलुप्त समाज-जीवन की अभि-ज्ञता पिरोई हुई है। मानव-सभ्यता की धारा में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई। कितने युगों की स्मृति मनुष्य के आधु-निक व्यवहार व नीति के साथ अज्ञात भाव से मिलकर समाज की गति के अनुकूल अथवा प्रतिकूल आचरण कर रही है, इसकी कोई इयत्ता नहीं।

मोटरकार के इंजिन की भीतरी रचना और कलपुर्ज़े

इस इंजिन में चार सिलिंडर लगे हैं और उनमें पिस्टन तथा एक्ज़ॉस्ट व प्रवेश-वाल्व उन्हीं चार स्ट्रोकों की अवस्था में दिखाए गए हैं, जिनकी क्रिया लेख में विस्तृत रूप से समझाई गई है। इस पद्धति से गस का धड़ाका पैदा करके इंजिन में शक्ति उत्पन्न की जाती है और इस शक्ति द्वारा मोटर के चालक पहिए घुमाए जाते हैं। सिलिंडर को पानी द्वारा ठंढा रखने की योजना भी चित्र में दिखाई गई है।

धरती पर विजय--(५) मोटरगाड़ियों का विकास

पिछले अंक में हमने रेलगाड़ी के संबंध में लिखा था। किन्तु धरातल पर यातायात के एक और महत्त्वपूर्ण वाहन का विकास इधर हुआ है और उसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। यह है मोटरकार या पैट्रोल से चलनेवाली पहिएदार गाड़ी। आइए, इस लेख में इस महत्त्वपूर्ण वाहन के विकास-क्रम का अध्ययन करें। अगले लेख में मोटरें कैसे बनाई जाती हैं, यह बताया जायगा।

व्यापार के बढ़ने के साथ ही सभ्य समाज को ऐसे शीघ्रगामी वाहनों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो साधारण सड़कों पर भी आसानी से चल सकें। वाष्प-इंजिनों के सम्बन्ध में जिन दिनों भिन्न-भिन्न देशों में प्रारम्भिक प्रयोग किए जा रहे थे, फ्रेञ्च इंजीनियर कग्नॉट ने भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी बनाई। यह बात १७६३ ई० की है। यह लारी पैरिस म्यूज़ियम में अब तक रखी हुई है। इस लारी में तीन पहिये थे---एक सामने और दो पीछे। आगेवाले पहिये के सामने ही एक बड़ी देगची रक्खी गई थी, यही ब्वॉयलर का काम देती थी।

इसके बाद सड़क पर ख़ानगी गाड़ी खींचने के लिए वाष्प-इंजिनों के भिन्न-भिन्न नमूने अन्य लोगों ने भी तैयार किए। सन् १८२६ में एक अँग्रेज़ गर्नी ने सड़क पर दौड़ने लायक़ एक वाष्प-इंजिन तैयार किया जो अपने साथ एक फ़ैशनेबुल फिटन भी खींच सकता था। उन दिनों की एक दौड़-प्रतियोगिता में उसकी गाड़ी ने १५मील प्रति घण्टे की रफ़्तार हासिल की थी---उन दिनों के लिए निस्सन्देह यह एक आश्चर्यजनक करतब था। इस प्रतियोगिता में गर्नी की इस फिटन में स्वयं ड्यूक आफ़ विलिंग्डन सवार थे। यह एक दिलचस्प बात है कि ठीक जिस दिन गर्नी ने अपनी गाड़ी का प्रदर्शन जनता के सामने किया, उसी दिन एक फ्रेञ्च गणितज्ञ ने गणित के सिद्धान्त पर यह साबित किया था कि भाप द्वारा परिचालित इंजिन मामूली सड़कों पर कभी दौड़ लगा ही नहीं सकते!

भाप के साधारण इंजिनों का आकार ब्वॉयलर के कारण बहुत बे-

कग्नॉट की स्टीम-लॉरी

यह भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी थी। इसे हम आज की मोटर की पूर्वज कह सकते हैं।

मोटरकार के इंजिन की भीतरी रचना और कलपुर्ज़े

इस इंजिन में चार सिलिंडर लगे हैं और उनमें पिस्टन तथा एक्ज़ॉस्ट व प्रवेश-वाल्व उन्हीं चार स्ट्रोकों की अवस्था में दिखाए गए हैं, जिनकी क्रिया लेख में विस्तृत रूप से समझाई गई है। इस पद्धति से गस का धड़ाका पैदा करके इंजिन में शक्ति उत्पन्न की जाती है और इस शक्ति द्वारा मोटर के चालक पहिए घुमाए जाते हैं। सिलिंडर को पानी द्वारा ठंढा रखने की योजना भी चित्र में दिखाई गई है।

धरती पर विजय—(५) मोटरगाड़ियों का विकास

पिछले अंक में हमने रेलगाड़ी के संबंध में लिखा था। किन्तु धरातल पर यातायात के एक और महत्त्वपूर्ण वाहन का विकास इधर हुआ है और उसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। यह है मोटरकार या पैट्रोल से चलनेवाली पहिएदार गाड़ी। आइए, इस लेख में इस महत्त्वपूर्ण वाहन के विकास-क्रम का अध्ययन करें। अगले लेख में मोटरें कैसे बनाई जाती हैं, यह बताया जायगा।

व्यापार के बढ़ने के साथ ही सभ्य समाज को ऐसे शीघ्रगामी वाहनों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो साधारण सड़कों पर भी आसानी से चल सकें। वाष्प-इंजिनों के सम्बन्ध में जिन दिनों भिन्न-भिन्न देशों में प्रारम्भिक प्रयोग किए जा रहे थे, फ्रेञ्च इंजीनियर कग्नॉट ने भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी बनाई। यह बात १७६३ ई० की है। यह लारी पैरिस म्यूज़ियम में अब तक रखी हुई है। इस लारी में तीन पहिये थे—एक सामने और दो पीछे। आगेवाले पहिये के सामने ही एक बड़ी देगची रक्खी गई थी, यही ब्वॉयलर का काम देती थी।

इसके बाद सड़क पर ख़ानगी गाड़ी खींचने के लिए वाष्प-इंजिनों के भिन्न-भिन्न नमूने अन्य लोगों ने भी तैयार किए। सन् १८२६ में एक अँग्रेज़ गर्नी ने सड़क पर दौड़ने लायक एक वाष्प-इंजिन तैयार किया जो अपने साथ एक फ़ैशनेबुल फिटन भी खींच सकता था। उन दिनों की एक दौड़-प्रतियोगिता में उसकी गाड़ी ने १५मील प्रति घण्टे की रफ़्तार हासिल की थी—उन दिनों के लिए निस्सन्देह यह एक आश्चर्यजनक करतब था। इस प्रतियोगिता में गर्नी की इस फिटन में स्वयं ड्यूक आफ़ विलिंग्डन सवार थे। यह एक दिलचस्प बात है कि ठीक जिस दिन गर्नी ने अपनी गाड़ी का प्रदर्शन जनता के सामने किया, उसी दिन एक फ्रेञ्च गणितज्ञ ने गणित के सिद्धान्त पर यह साबित किया था कि भाप द्वारा परिचालित इंजिन मामूली सड़कों पर कभी दौड़ लगा ही नहीं सकते!

कग्नॉट की स्टीम-लॉरी

यह भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी थी। इसे हम आज की मोटर की पूर्वज कह सकते हैं।

भाप के साधारण इंजिनों का आकार ब्वॉयलर के कारण बहुत बे-

गर्नी की फिटन और उसको खींचनेवाला वाष्प-इंजिन, जिसने दौड़-प्रतियोगिता में सन् १८२९ में १५ मील प्रति घंटे की रफ़्तार हासिल कर ली थी।

डौल हो जाता था। इंजिन को अपने साथ पानी, कोयला और भट्ठी ले चलना पड़ता था। अतः पैरिस के कुछ आविष्कारकर्त्ताओं ने ऐसे इंजिनों का निर्माण किया, जो वज़न में हलके और आकार में छोटे थे। इन इंजिनों में ड्राइवर की सीट के पीछे ही एक नए किस्म का ब्वॉयलर फ़िट किया गया था। यह ब्वॉयलर लोहे के लम्बे और सँकरे ट्यूब का बना था। पेट्रोल के स्टोव से इस ट्यूब को ख़ूब गर्म करते थे—फिर इस तप्त ट्यूब में पानी प्रवेश कराया जाता था। ट्यूब के अन्दर पहुँचते ही पानी तत्काल भाप में परिवर्त्तित हो जाता था। इसी भाप के बल से पिस्टन में हरकत होती थी। इंजिन की रफ़्तार को घटाने या बढ़ाने के लिए उसी अनुपात में कम या अधिक मात्रा में पानी ट्यूब के अन्दर प्रवेश कराते थे। हलके क़िस्म की इन स्टीम-लारियों को जनता ने ख़ूब पसन्द किया।

इन्हीं दिनों फ्रान्स में कोलन के एक इञ्जीनियर आटो ने एक ऐसा इंजिन तैयार किया जिसमें पानी की भाप की जगह पेट्रोल की गैस इस्तेमाल होती थी। साथ ही इस इंजिन में ब्वॉयलर की भी कोई आवश्यकता न रही और न ब्वॉयलर में आँच पहुँचाने के लिए स्टोव या भट्ठी की दरकार रही। कोयले-पानी का कोई झंझट न रहा। आटो-इंजिन में सिलिण्डर ही के भीतर पेट्रोल की वाष्प और हवा को विस्फोट कराकर पिस्टन में हरकत पैदा करने के लिए शक्ति उत्पन्न करते हैं।

आजकल भी सभी तरह की मोटर-गाड़ियों के इंजिनों के निर्माण में आटो-इंजिन का ही मूल सिद्धान्त काम में लाया जाता है। आटो-इंजिन के सिलिण्डर में एक चौड़े गट्टेवाला पिस्टन आगे-पीछे हरकत करता है। पिस्टन का गट्टा सिलिण्डर की दीवालों में ख़ूब कसकर बैठता है, ताकि एक तरफ़ से दूसरी ओर साँस न जाने पाए। फिर भी सिलिण्डर में गैस के जलने के कारण हद दर्जे की गर्मी पैदा होती है—अतः साधारण ढंग के पिस्टन के गट्टे में प्रसार इतना काफ़ी हो जायगा कि वह सिलिण्डर की दीवालों में ही फँस जाय। ऐसी दशा में पिस्टन का आगे-पीछे हरकत करना असम्भव हो जायगा। इस कठिनाई से बचने के लिए पिस्टन में एक ख़ास ढंग के गट्टे फ़िट किए जाते हैं। इन गट्टों के सामनेवाले भाग में कई एक छल्ले लगे रहते हैं। सिलिण्डर की परिधि में ही खाँच कटी रहती है—इन्हीं खाँचों में छल्ले पहना दिए जाते हैं। छल्ले का थोड़ा-सा हिस्सा कटा रहता है अतः ये हर वक़्त सिलिण्डर की दीवालों में कसकर सटे रहते हैं, साथ ही पिस्टन की हरकत में किसी प्रकार की अड़चन भी नहीं पैदा करते।

सिलिण्डर के सिरे पर दो छिद्र होते हैं और इन दोनों छिद्रों का मुँह वाल्व के ज़रिए बन्द रहता है। एक छिद्र के रास्ते गैस और हवा का मिश्रण सिलिण्डर में प्रवेश करता है, और दूसरे छिद्र से विस्फोट के उपरान्त गैसें बाहर निकलती हैं। पिस्टन जब नीचे की ओर जाने लगता है, इसी क्षण प्रवेश-वाल्व (Inlet-Valve) खुलता है और इस रास्ते पेट्रोल की वाष्प और हवा का मिश्रण सिलिण्डर में प्रवेश करता है। पिस्टन की इस हरकत को 'चार्जिङ्ग स्ट्रोक' कहते हैं। सिलिण्डर में पिस्टन जब नीचे की ओर हरकत करता है तो सिलिण्डर के सामने-वाले भाग में आंशिक वैकुअम पैदा हो जाता है। फलस्वरूप प्रवेश-वाल्व के रास्ते पेट्रोल की भाप और हवा सिलिण्डर

के अन्दर सुड़क उठती है। प्रवेश-वाल्व का सम्बन्ध एक नली द्वारा कार्ब्यूरेटर से बना रहता है। इसी कार्ब्यूरेटर में पेट्रोल की भाप और हवा का सही अनुपात में मिश्रण तैयार होता है।

सिलिण्डर के पेंदे तक पहुँच चुकने के बाद कम्प्रेशन-स्ट्रोक आरम्भ होता है। पिस्टन की हरकत अब ऊपर की ओर होने लगती है। ठीक कम्प्रेशन-स्ट्रोक के आरम्भ होते ही प्रवेश-वाल्व बन्द हो जाता है। पिस्टन सिलिण्डर की गैस को दबाकर उसे थोड़ी-सी जगह में संकुचित कर देता है। पिस्टन अब लगभग सिलिण्डर के सिरे तक पहुँच चुका होता है। ठीक इसी क्षण सिलिण्डर के सिरे में लगे हुए स्पार्क-प्लग में विद्युत्-चिनगारी पैदा करते हैं—बस संकुचित गैसें भभककर जल उठती हैं और उनके आयतन में कई हज़ार गुना वृद्धि होती है! इस कारण प्रबल वेग के साथ पिस्टन को नीचे की ओर वे फेंक देती हैं। यही पिस्टन का पावर-स्ट्रोक है। मशीन की चालक शक्ति के पीछे पिस्टन की यही हरकत काम करती है। अब चौथी बार पिस्टन फिर ऊपर की ओर लौटता है—इस एक्ज़ॉस्ट स्ट्रोक के आरम्भ होते ही सिलिण्डर का एक्ज़ॉस्ट वाल्व खुल जाता है और सिलिण्डर की तमाम गैसें इस रास्ते से बाहर निकल जाती हैं। इस स्ट्रोक के पूरा होने पर एक्ज़ॉस्ट वाल्व बन्द हो जाता है और प्रवेश-वाल्व खुलता है, साथ ही पिस्टन का चार्जिङ्ग स्ट्रोक फिर आरम्भ होता है। इस प्रकार वे ही चार स्ट्रोक बार-बार दोहराए जाते हैं।

आटो पेट्रोल-इंजिन के चार स्ट्रोक
१. एक्ज़ॉस्ट स्ट्रोक; २. पावर स्ट्रोक; ३. कम्प्रेशन स्ट्रोक; ४. चार्जिंग स्ट्रोक। (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।

हम देखते हैं कि पिस्टन की चार हरकतों में से केवल एक ही से इंजिन को शक्ति प्राप्त होती है। शेष तीन स्ट्रोकों से इंजिन को रंचमात्र भी शक्ति प्राप्त नहीं होती। एक सिलिण्डरवाले इंजिन की मोटर-सायकिल में झटके बहुत अधिक लगते हैं—क्योंकि पिस्टन की चार हरकतों में केवल एक से ही झटके के साथ इंजिन को शक्ति मिलती है। इस झटके से बचने के लिए तथा मोटर को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए इंजिन में ८, ६ और कभी-कभी तो १६ सिलिण्डर तक लगा दिए जाते हैं। फलस्वरूप प्रति क्षण किसी-न-किसी सिलिण्डर से इंजिन को ताक़त अवश्य मिलती रहती है। ये सभी पिस्टन क्रैन्क और शैफ़्ट द्वारा मोटर-गाड़ी की धुरी से सम्बद्ध रहते हैं। एक सिलिण्डर का पेट्रोल-इंजिन मोटर-सायकिल या मोटर-बोट में ही पाया जाता है।

पेट्रोल को सीधे टङ्की से इंजिन के सिलिण्डर में नहीं ले जाते। सिलिण्डर में प्रवेश कराने के पहले पेट्रोल को वाष्परूप में परिवर्त्तित करना आवश्यक होता है। इस काम को कार्ब्यूरेटर कर देता है। कार्ब्यूरेटर के अन्दर पेट्रोल छिद्र 'प' के रास्ते और हवा 'ह' के रास्ते प्रवेश करती है। सूक्ष्म छिद्र 'प' पेट्रोल को क्षुद्रतम आकार की नन्हीं-नन्हीं बूँदों में विभाजित कर देता है—फिर वायु के सम्पर्क में आते ही इनका तुरन्त वाष्पीकरण हो जाता है। छिद्र 'प' और 'ह' के आकार को इस हिसाब से रखते हैं कि हवा और पेट्रोल-वाष्प के मिश्रण में एक भाग पेट्रोल के पीछे १५ भाग हवा रहे। कार्ब्यूरेटर के अन्दर पेट्रोल पास में रखे हुए टैङ्क 'ग' से आता है। इस छोटे-से टैङ्क में पेट्रोल की सतह सदैव एक ख़ास ऊँचाई पर बनी रहती है। पेट्रोल की मुख्य टङ्की से इस टैङ्क में पेट्रोल आए

है। इस टैङ्क में पेट्रोल की सतह जैसे ही एक नियत ऊँचाई पर पहुँची वैसे ही पीपा 'क' पेट्रोल में तैरने के कारण इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि छिद्र 'छ' में सुईनुमा वॉल्व का सिरा एकदम फ़िट बैठ जाता है। अब टङ्की में पेट्रोल इस रास्ते से प्रवेश नहीं कर सकता। पेट्रोल की सतह नीची हुई कि पीपा फिर नीचे आ जाता है, और छिद्र 'छ' में साँस खुल जाती है और टैङ्क में पेट्रोल फिर आने लगता है (दे० पृ० १६०१ का चित्र)।

कार्ब्यूरेटर की बनावट वास्तव में बड़ी पेचीदा होती है, क्योंकि इंजिन स्टार्ट करते समय कार्ब्यूरेटर को सिलिण्डर में ऐसा मिश्रण भेजना पड़ता है, जिसमें पेट्रोल की मात्रा हवा की अपेक्षा अधिक हो। जब मोटरकार धीमी चाल से चलती है उस समय पेट्रोल की मात्रा अपेक्षाकृत कम करनी पड़ती है और तेज़ रफ़्तार से भगाने के लिए पेट्रोल का अनुपात और भी अधिक करना पड़ता है। प्रायः एक ही कार्ब्यूरेटर में भिन्न-भिन्न साइज़ के तीन-चार छिद्र बने रहते हैं। इनमें से प्रत्येक भिन्न-भिन्न अवसरों पर काम में लाये जाते हैं।

मोटरकार के इंजिनों में इस बात का भी प्रबन्ध करना ज़रूरी होता है कि मौक़ा पड़ने पर इंजिन का सम्बन्ध पहियों से अलग कर दिया जाय, ताकि ब्रेक लगाकर मोटरकार खड़ी की जा सके और इंजिन पूर्ववत् चलता रहे। यह सहूलियत क्लच (Clutch) द्वारा प्राप्त होती है। इंजिन के मुख्य शैफ़्ट में एक कोन के आकार-सदृश फ़्लाई-ह्वील लगा रहता है। पहिये की धुरी में भी कोन के आकार का ही एक छोटा फ़्लाई-ह्वील लगा रहता है। इस फ़्लाई ह्वील की परिधि पर चमड़ा चढ़ा रहता है। क्लच ढीला रखने पर यह छोटा फ़्लाई-ह्वील बड़े फ़्लाई-ह्वील के भीतर स्प्रिङ्ग के दबाव से जाकर जम जाता है। इंजिन के शैफ़्ट के घूमते ही बाहरी फ़्लाई-ह्वील तेज़ी के साथ घूमने लगता है और साथ ही पहिये से सम्बद्ध छोटा फ़्लाई-ह्वील भी चक्कर लगाने लगता है। क्लच को पैर से दबाते ही भीतरी फ़्लाई-ह्वील शैफ़्ट के फ़्लाई-ह्वील से दूर हट जाता है और इस तरह पहियों का इंजिन से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इंजिन भरपूर शक्ति से ही क्यों न चल रहा हो, पहिये ज़रा भी हरकत न करेंगे। कुशल ड्राइवर पहियों में ब्रेक लगाने के पहले सदैव क्लच को दबा लेते हैं।

वॉल्व कैसे खुलता और बंद होता है?

'अ' स्प्रिङ्ग, जो हैपेट के सिरे को प्रवेशद्वार 'व' से दबाए रखता है। 'ब' हैपेट की ऊँचाई घटाने बढ़ाने के लिये ढिबरी। कैम का 'क' जब हैपेट के पैर को छूता है तो हैपेट ऊपर उठ जाता है और वाल्व थोड़ी देर के लिए खुल जाता है।

स्टार्ट करते समय इंजिन के शैफ़्ट को कभी भी सीधे पहिये के शैफ़्ट से सम्बद्ध नहीं रखते। ऐसा करने से इंजिन के ऊपर बोझ अत्यधिक पड़ेगा। अतः क्लच की मदद से इंजिन के शैफ़्ट को गियरबॉक्स द्वारा पहिये के शैफ़्ट से इस प्रकार जोड़ते हैं कि इंजिन के शैफ़्ट का एक छोटा दाँतदार चक्र पहिये के शैफ़्ट के बड़े दाँतदार चक्र से जा फँसता है। इस दशा में इंजिन का शैफ़्ट जब कई बार चक्कर लगा चुकता है, तब पहिया एक बार घूमता है, अतः इंजिन पर ज़ोर कम पड़ता है। गाड़ी की रफ़्तार तेज़ करने के लिए गियर बदलकर पहिये को ऐसे चक्र में लगाते हैं जिसमें दाँतों की संख्या पहले चक्र की अपेक्षा कम होती है। गियर की रिवर्सिंग सहायता से मोटरकार के पहियों को उलटी दिशा में घुमाकर कार को पीछे ले जा सकते हैं।

इस सिलसिले में डिफरेन्शियल (Differential) गियर का ज़िक्र करना अनुपयुक्त न होगा। तीव्र गति से भागती हुई कोई भी गाड़ी जब मोड़ पर घूमती है तो भीतरवाले पहिये की अपेक्षा बाहरवाले पहिये को उतने ही समय में ज़्यादा फ़ासला तय करना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जब बाहरवाला पहिया भीतरवाले पहिये की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी के साथ घूमे। बढ़िया मोटरकार में डिफरेन्शियल गियर की सहायता से इंजिन का अकेला शैफ़्ट पिछले पहियों को भिन्न रफ़्तार से घुमा लेता है। सिलिण्डर के अन्दर हद दर्जे की गर्मी उत्पन्न होती है। अतः उसे ठण्डा न रक्खा जाय तो इस अतिशय ताप के कारण या तो पिस्टन के जोड़ों में लगी हुई ग्रीज़ या चर्बी एकदम भाप बनकर उड़ जायगी और जोड़ों के हिलने-डुलने में मुश्किल पड़ेगी, या पिस्टन में प्रसार इतना अधिक होगा कि वह सिलिण्डर के अन्दर फँसकर रह जायगा और ऊपर-नीचे बिल्कुल ही हरकत न कर पायगा। सिलिण्डर
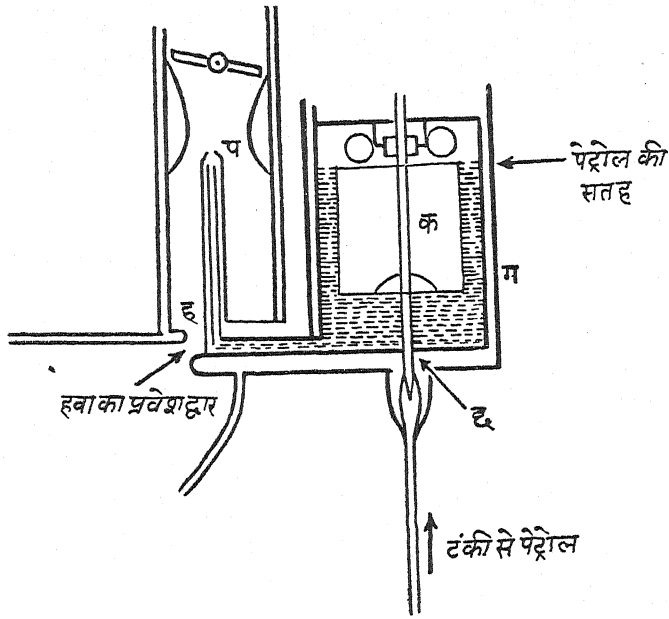
(बाईं ओर)

कार्ब्यूरेटर का सिद्धान्त

(पूरे विवरण के लिए पृष्ठ १६०० का मैटर पढ़िए)

(दाहिनी ओर)

मोटरकार का गतिनिर्देशक यंत्र

पहिये की धुरी जितनी अधिक तेज़ी से घूमती है, उतनी अधिक तेज़ी से गर्वनर के लट्टू नाचते हैं—फलस्वरूप गर्वनर के लट्टू बिन्दीदार स्थिति पर आ जाते हैं—अतः दंतचक्र का छल्ला दाहिनी ओर खिसक आता है और अपने साथ सुई को भी डायल पर घुमाता है । इस तरह कार की गति मीलों में अंकित हो जाती है
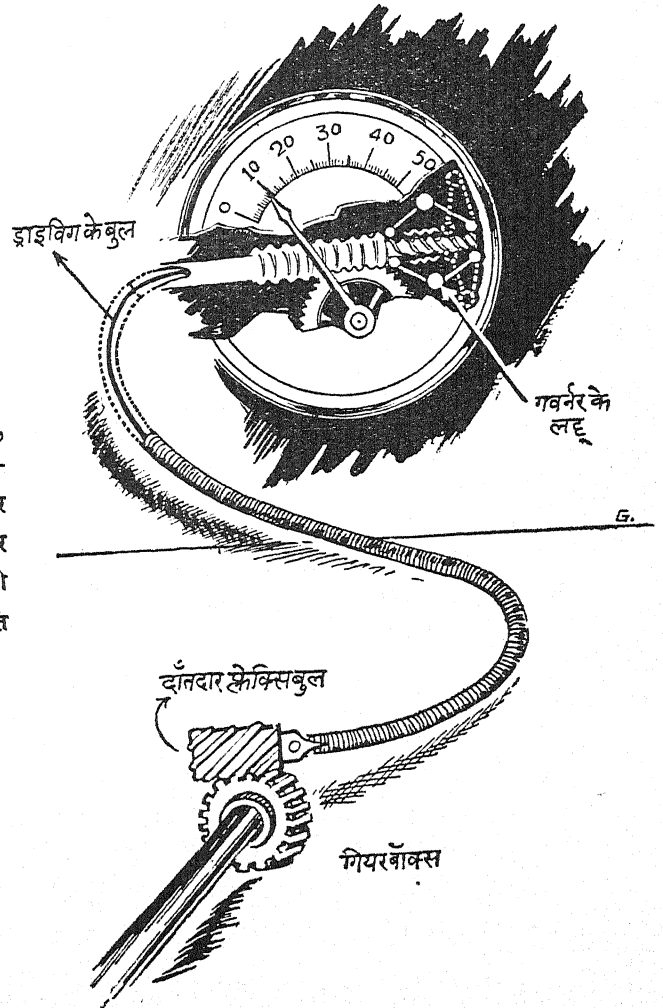
को ठण्डा रखने का सबसे सहल तरीक़ा है सिलिण्डर के चारों ओर लोहे की चौड़ी-चौड़ी पत्तियों को खड़ी जड़ देना। इन पत्तियों के बीच में ठण्डी हवा बरबस आ फँसती है और अपने साथ इंजिन की गर्मी ले जाती है। वायुयान के इंजिनों में तथा मोटर-सायकिल में इसी तरकीब का प्रयोग करते हैं, क्योंकि ये दोनों वाहन हवा में तीव्र वेग से भागते हैं, अतः इन पत्तियों पर हवा का तेज़ झोंका लगता है। किन्तु साधारण मोटरकार में तथा ऐसे इंजिनों में जो एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, इंजिन को ठण्डा रखने के लिए ठण्डे पानी की धारा का प्रयोग करते हैं। सिलिण्डर के चारों ओर चक्कर लगाकर गर्म पानी सामने रेडिएटर में जब पहुँचता है तो हवा के तेज़ झोंके खाकर वह पुनः ठण्डा हो जाता है। इस प्रकार वही पानी बार-बार सिलिण्डर के चारों ओर चक्कर लगाता है। रेडिएटर में मधुमक्खी के छत्ते की भाँति के पतले-पतले ट्यूब लगे रहते हैं। इन्हीं ट्यूबों में से होकर पानी गुज़रता है। इस प्रकार पानी के ट्यूब के धरातल का काफ़ी भाग हवा के सम्पर्क में आ सकता है।

सिलिंडर को पानी द्वारा ठंढा कैसे रखते हैं?
देखिए, सिलिंडर के चारों ओर के जैकेट में पानी चक्कर लगाता रहता है और इस तरह सिलिंडर की दीवार को गर्म नहीं होने देता।

पेट्रोल-इंजिन के इन भिन्न-भिन्न पुर्ज़ों का विकास अकेले किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है। अनेक आविष्कारों ने थोड़ा-थोड़ा करके पेट्रोल-इंजिन को विकास के पथ पर आगे बढ़ाया है। आटो के एक सहायक इञ्जीनियर डेम्लेर ने आटो-इंजिन का अध्ययन अच्छी तरह किया और उसने इस इंजिन में अनेक सुधार करके इसकी शक्ति पहले से चौगुनी बढ़ाई। आटो का इंजिन अपने फ्लाई-ह्वील को एक मिनट में केवल २५० बार घुमा पाता था। किन्तु डेम्लेर ने इसकी रफ़्तार को कई गुना बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर ली, यद्यपि लोगों ने उसे हतोत्साहित करने में कोई भी कसर बाक़ी न रक्खी। उन लोगों का कहना था कि रफ़्तार तेज़ करने पर इंजिन के टुकड़े-टुकड़े उड़ जायँगे। इस परिष्कृत आटो-इंजिन को इसने सशंकित हृदय से अपनी सायकिल में फ़िट किया। जिस दिन वह अपनी मोटर-साइकिल पर चढ़कर पहली बार सड़क पर घूमा, उसके मन में यह विश्वास जम गया कि वह शीघ्र ही सर्वसाधारण के लिए भी मोटरगाड़ियाँ तैयार कर सकेगा। आधुनिक ढंग की मोटर के विकास की यह प्रथम सीढ़ी थी। शीघ्र ही एक फ्रेञ्च कंपनी ने डेम्लेर के पेटेन्ट को ख़रीद लिया और वह पेट्रोल-इंजिन से युक्त मोटरगाड़ियाँ तैयार करने लगी।

इन्हीं दिनों जर्मनी में कार्ल बेन्ज़ ने भी तीन पहियों की एक मोटरकार तैयार की। इस गाड़ी के इंजिन की शक्ति ¾ अश्वबल के बराबर थी। सरकारी अधिकारियों के सामने उसने जब अपनी मोटर को ७॥ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से दौड़ाई तो वे लोग बहुत घबराए और उन्होंने बेन्ज़ को हुक्म दिया कि वह हरगिज़ अपनी मोटर की रफ़्तार ७॥ मील प्रति घण्टे से ज़्यादा न बढ़ावे, साथ ही उसे चेतावनी मिली कि शहर के अन्दर वह अपनी मोटर की रफ़्तार तीन मील से कम ही रक्खे। यह बात १८८५ की है।

यन्त्र द्वारा परिचालित गाड़ियों के लिए इङ्गलैण्ड में भी काले क़ानून बन गए थे। प्रत्येक मोटर-गाड़ी या वाष्प-इंजिन के आगे-आगे लाल झण्डी लेकर एक सिपाही को पैदल चलना पड़ता था और ऐसी गाड़ियों को आदमी की रफ़्तार से ज़्यादा तेज़ी से हाँकने का हुक्म भी न था। इस प्रतिक्रियावादी क़ानून ने इङ्गलैण्ड में मोटरकार-सम्बन्धी आविष्कारों के रास्ते में निस्सन्देह अनेक बाधाएँ पहुँचाईं। सौभाग्यवश १८९५ में यह काला क़ानून रद कर दिया

गया। इसी बीच इङ्गलैएड के इञ्जीनियरों ने फ्रांस और जर्मनी की मोटर-सम्बन्धी ईजादों को देखा और उनका अच्छी तरह अध्ययन किया। अतएव १८९६ में मिस्टर लैन्सेस्टर ने एक मोटरकार तैयार की, जिसमें आधुनिक मोटरकार के सभी जरूरी पुर्ज़ों का समावेश किया गया था। एक्सलरेटर, क्लच, पैर से दबानेवाला ब्रेक और गियर बदलनेवाली मुठिया – ये सभी चीज़ें उसमें मौजूद थीं। पहियों में हवा भरे हुए रबर के टायर और धुरी में गोल-गोल छर्रे भी थे, जैसे कि आधुनिक मशीनों में सब कहीं काम में आते हैं।

क्लच का सिद्धान्त

(विवरण के लिए पृ० १६०० का मैटर देखिए)

शक्तिशाली इंजिनवाली पायदार मोटरकार के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दिलाने के लिए मोटरों की सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता १८९५ में फ्रांस के मोटरवाले कारख़ानों के मालिकों की अध्यक्षता में आयोजित हुई। पेरिस से बोर्डो तक जाकर वापस आना था—कुल फ़ासला ७३२ मील का था। दौड़ में भाग लेनेवाली गाड़ियों में १५ पेट्रोल से चलनेवाली गाड़ियाँ थी, ६ भाप के इंजिनवाली और १ बिजली के बल से चलनेवाली गाड़ी थी। इस प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले अनेक ड्राइवर रास्ते में घायल हुए और कई एक की जानें गयीं। केवल आधे लोग दौड़ पूरी कर सके।

१८८८ में बेंज कंपनी द्वारा बनाई गई एक मोटरकार जो अब भी लंदन के सायंस म्यूज़ियम में रक्खी है और ९ से १० मील प्रति घंटा तक दौड़ लगा सकती है।

इन सबमें डेम्लेर मोटरकार का स्थान सबसे आगे रहा। इस लम्बी दौड़ में डेम्लेर-कार की औसत रफ़्तार १५ मील प्रति घण्टे रही थी।

प्रारंभिक दिनों की इन मोटरगाड़ियों के चलने में अत्यधिक मात्रा में शोर होता था—इंजिन में प्रायः एक ही सिलिण्डर हुआ करता था, अतः मोटर में बेशुमार झटके लगते थे। कार की बॉडी में स्प्रिंग भी बढ़िया क़िस्म के न थे, बस जहाँ-कहीं भी सड़क की सतह ऊँची-नीची मिली, मोटर ज़ोरों के साथ उछल पड़ती। चूँकि, इंजिन का शोर और बॉडी की खड़खड़ाहट इतनी ज़्यादा होती थी अतएव इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती थी कि ड्राइवर हार्न बजाए। मोटरकार के शोर से लोग स्वयं ही आगाह हो जाते थे।

फिर भी अपनी उपयोगिता के कारण मोटर सर्वसाधारण के बीच बहुत ही प्रिय हो गई। भिन्न-भिन्न कामों के लिए तरह-तरह की डिज़ाइन की मोटरगाड़ियाँ तैयार की जाने लगीं। डाक्टर, इञ्जीनियर, व्यापारी सभी ने मोटरकार के महत्त्व को पहचाना। व्यापारियों ने मोटरलारियों पर माल लादना शुरू किया। सवारी ढोने के लिए भी बस-कम्पनियों ने मोटरगाड़ियों को अपनाया। फलस्वरूप दो ही चार वर्षों के अन्दर अनेक फैक्टरियाँ खुल गईं, और हज़ारों की संख्या में प्रतिवर्ष मोटरगाड़ियाँ इन फैक्टरियों में तैयार होने लगीं।

आँगस्टस सीज़र की सबसे प्रसिद्ध मूर्त्ति

यह प्राइमा पोर्टा में स्थित लिविया के कुंजभवन में पाई गई थी और आज दिन रोम के 'वेटिकन म्यूज़ियम' में सुरक्षित है।

रोमन कला--(२) भास्कर्य और चित्रकला

जिस प्रकार परमेश्वर की अभिव्यक्ति की त्रिमूर्त्ति या तीन रूपों द्वारा कल्पना की जाती है, उसी तरह मनुष्य की दृश्य कलाओं को भी तीन वर्गों में विभाजित करने की एक प्रथा-सी पड़ गई है। ये हैं स्थापत्य या भवन-निर्माण, भास्कर्य या मूर्त्ति-निर्माण, और चित्रकारी। कुछ विचारकों के अनुसार, इनमें स्थापत्य ही मूलभूत या 'आधार' है, शेष दोनों अंग उस पर आश्रित या 'आधेय' मात्र हैं। इस दृष्टि से, यह आवश्यक है कि पहले किसी पात्र, भवन या कंदरा का निर्माण किया जाय; तदुपरांत मूर्त्तियों या चित्रों द्वारा विभूषित कर उसकी सजधज और भी बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार, ग्रीक देवालयों के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि जब विशुद्ध उपयोगिता-संबंधी आवश्यकताएँ पूरी हो चलीं तब भवन-निर्माताओं के मन में अपनी कृतियों को एक सौंदर्य के भाव से अभिभूत करने की भूख जगने लगी। इस सौंदर्य-पिपासा ही ने ग्रीक भवनों की कठोर डोरिक शैली को क्रमशः अधिक शृङ्गारपूर्ण, यद्यपि स्त्रैणभावयुक्त, कारिंथियन शैली में बदल दिया। साथ ही इसी ने देवालयों को सजाने में प्रयोग की गई असंख्य मूर्त्तियों, फ्रीज़ों, पेडिमेंट पर अंकित प्रतिमाओं तथा अंततोगत्वा मंदिर के निर्माण में धन द्वारा सहायता करनेवालों की मानव-मूर्त्तियों को भी जन्म दिया।

हम देख चुके हैं कि ग्रीक कला के उत्तरकाल में किस प्रकार इस ढंग की मानव-मूर्त्तियों का अधिकाधिक रिवाज बढ़ चला था। वास्तव में, ग्रीक लोगों के आरंभिक आदर्शवाद के ढल चुकने के शीघ्र ही बाद से ग्रीस में वीरोपासना की रीति चल पड़ी थी। अब सार्वजनिक स्थानों में मानवाकृतिवाले देवताओं की मूर्त्तियों के बदले राजपुरुषों, शक्तिधर शासकों या नेताओं की प्रतिमाओं की ही अधिकांश में भरमार हो चली, जिनमें एक देवतुल्य सर्वशक्तिमानता और गौरव-गरिमा का भाव प्रदर्शित रहता था। रोमन लोगों ने भी, जिन्होंने उत्तरकालीन ग्रीक लोगों से ही अपनी कला की कुंजी पाई थी, मानव-मूर्त्ति-निर्माण की इस प्रचलित प्रथा को जारी रक्खा, जिसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि रोम के गौरवशाली सुपुत्रों की सारी ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र-मंडली अमिट संगमरमर में सदा के लिए उचित रूप से सुरक्षित हो गई। यह सच है कि रोमन मूर्त्तियों में अधिकांश ग्रीक लोगों की ही नक़ल पाई जाती है, किन्तु इस बात के लिए तो रोमन लोगों को श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने ग्रीक परंपरा को उस समय जारी और जीवित रक्खा, जबकि स्वयं ग्रीस ही में कला-संबंधी प्रेरणा का आदि स्रोत क़रीब-क़रीब सूख चुका था।

जैसा कि प्रायः होता है, रोमन कला का भी प्रारंभ धर्म-मंदिर और उसके प्राङ्गण में ही हुआ। सभी आदिम कलाकृतियाँ या तो भक्तिमूलक होती है या शव-संस्कार-संबंधी। अपने आरंभिक देवालयों में रोमन लोगों ने इट्रस्कन लोगों का अनुकरण किया था, जिन्होंने स्वयं ग्रीक लोगों की नक़ल की थी। रोमन देवालयों के त्रिभुजाकार पेडिमेंट टेराकोटा की मृण्मय मूर्त्तियों से विभूषित किए जाते थे, जो निश्चय ही इट्रस्कन लोगों की कला की याद दिलाती हैं। सच पूछिए तो मिट्टी की कारीगरी, भास्कर्य और काँसे से मूर्त्तियाँ ढालने की कला के सम्बन्ध में रोमन लोग जो कुछ भी जानकारी रखते थे उसके लिए वे लगभग संपूर्णतया इट्रस्कन लोगों के ही ऋणी थे। हिप्नास या निद्रा की सुप्रसिद्ध मूर्त्ति, रोम के प्रतिष्ठापक युगल बंधु रेमस और रोम्यूलस को दुग्धपान कराती हुई मादा भेड़िया की काँसे की विख्यात प्रतिमा, और 'वक्ता' या 'ब्रूटस' की तथाकथित मूर्त्तियाँ रोमनों द्वारा काँसे की ढलाई के उत्तम आरंभिक उदाहरणों में से हैं। किन्तु काँसे की ढलाई की परिमितता और विशेष अड़चनों से शीघ्र ही रोमन कलाकार ऊबने लगे और उनका ध्यान पाषाण से गढ़कर मूर्त्ति बनाने की ओर खिंचने लगा। इटली की अनेक संगमरमर की खदानों से मूर्त्ति-निर्माण के लिए उम्दा संगमरमर

टोगा पहने हुए दो रोमन नागरिकों की मूर्त्तियाँ
(प्रथम शताब्दी ईस्वी)

मिलने लगा था। इस अवसर से समुचित लाभ उठाने में रोमन कलाकारों ने देरी न की। ग्रीस के पुरातन या उत्तर युग की संगमरमर की वे अनेक कलाकृतियाँ, जो छँट-छँटकर विजेता रोमन सेनानायकों के साथ-साथ रोम में प्रवेश कर चुकी थीं, रोमन कलाकारों के लिए नक़ल करने या प्रेरणा पाने के लिए बहुत ही उपयोगी आदर्श या नमूनों का काम देने लगीं। इस प्रकार बहुत ही शीघ्र भास्कर्य के क्षेत्र में रोम की कारीगरी और सफलता ग्रीस की कारीगरी का मुक़ाबला करने लगी।

नेपल्स में भास्कर्य का एक स्थानीय 'स्कूल' या कला-संस्थान क्रमशः विकसित होकर उठ खड़ा हुआ, जिसने एलेक्ज़ेण्डर के युग की उन आदर्श ग्रीस कृतियों का अनुकरण करना आरम्भ किया, जिनका प्रजातंत्र के ज़माने के रोमन संग्रहकर्त्ता बहुत ही ऊँचा मूल्य आँकते थे। इस 'स्कूल' की एक विशेषता यह थी कि इसके अनुगामी कलाकारों ने बड़ी चतुरतापूर्वक यह बात भाँप ली थी कि ग्रीस की आरंभिक अति पुरातन मूर्त्तियाँ सौंदर्य-शास्त्र की दृष्टि से उत्तर-कालीन ग्रीक कृतियों से कहीं ऊँचे दर्जे की थीं। इसी वजह से इन लोगों ने अधिक शृंगारयुक्त और पांडित्यपूर्ण उत्तरकालीन ग्रीक शैली के बजाय अति प्राचीन आदि ग्रीक शैली का ही अनुसरण किया। इस शैली में बनाई गई कलाकृतियों का सर्वोत्तम नमूना तथाकथित 'पाम्पिआई की डायना' की मूर्त्ति है। "यह उस आडंबर-रहित परिश्रमपूर्ण शैली की नक़ल है, जिसमें कि अति प्राचीन ग्रीक शिल्पी गतिशील आकृति को व्यक्त करने का प्रयत्न करते थे। साँचे में ढली हुई-सी वह 'पुरातन मुसकान', वे बड़ी-बड़ी आँखें, वह एकसमान केश-विन्यास स्पष्ट रूप से यह बता देते हैं कि इसके कलाकार ने उसमें एक अति प्राचीन मूर्त्ति का भाव लाने के लिए कितना परिश्रम किया था।" कहते हैं कि इस 'स्कूल' का संस्थापक पेसीटीलीज़ नामक एक ग्रीक था, जो एक प्रसिद्ध मूर्त्तिकलाकार होने के अतिरिक्त एक विद्वान् लेखक भी था, जिसका ग्रीककला पर लिखित पाँच खण्डों का ग्रंथ प्लाइनी के सौंदर्य-शास्त्र सम्बन्धी अनुशीलन का प्रधान स्रोत था। उसी के ग्रंथ से यह ज्ञात होता है कि वह आजकल की तरह अपनी

कृति को मिट्टी में बनाता था और उसकी उसके शिष्य बाद को संगमरमर में नक़ल कर लेते थे। इफीजिनिया और ओरीस्टीज़ एवं तथाकथित 'इल्डेफांज़ो समूह' के प्रसिद्ध मूर्त्ति-समूह इसी नेपल्स के स्कूल के हैं और वे बिना किसी संदेह के ग्रीस के र्‌होड्स और प्रेक्सीटीलिज़ के स्कूलों की याद दिलाते हैं।

रोम में साम्राज्यशाही की स्थापना और प्रसार के साथ ही सम्राटों और जनता दोनों की विशाल इमारतें बनाने की सनक बढ़न लगी। प्रत्येक सम्राट् अपने राज्यारोहण या विजयों की यादगार में बेसिलिका, फोरम, सर्कस, स्नानागार आदि बनवाने लगा, जिससे स्थापत्य-कलाकरों, मूर्त्तिकारों, चित्रकारों और सजावट करनेवाले कारीगरों को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। सम्राट् ऑगस्टस की यह गर्वोक्ति थी कि मैंने रोम को एक ईंटों की बस्ती के रूप में पाया था और उसे मैंने संगमरमर की नगरी के रूप में छोड़ा। अपन सुदीर्घ शासनकाल में ऑगस्टस ने अनेक अति उपयोगी सार्वजनिक भवन निर्मित किए। उसे तथा उसके अनेक उच्चकुलीन मित्रों को कला के क्षेत्र में उन्नति के एक नवीन युग के उद्‌घाटन का श्रेय मिलना चाहिए। इस युग का भास्कर्य अधिकतर उभारकर खोदा हुआ या उत्‌ंकित था, क्योंकि इस ढंग के काम में जगह की बचत हो जाती थी। यह भित्ति-चित्रों तथा संपूर्ण पृथक् मूर्त्तियों के बीच मानों समझौता-सा था। इन उभारकर बनाए गए मूर्त्ति-चित्रों में अधिकतर पौराणिक या धार्मिक कथाएँ अंकित की गई थीं। हाँ, कुछ में तत्कालीन जीवित व्यक्तियों का भी चित्रण किया गया था, जैसे कि ऑगस्टस द्वारा निर्मित 'आरा पेसिस' ('शान्ति-पीठ') में, जिसे कि उसने गॉल और स्पेन में अपनी विजयों की स्मृति में बनवाया था। एङ्काइरा (आधुनिक 'अंकारा', जो तुर्की प्रजातंत्र की राजधानी है) नामक प्राचीन ग्रीक नगर में ऑगस्टस द्वारा बनवाया गया एक विशाल मन्दिर है, जिसकी दीवारों पर एक लंबा आलेख खुदा है। यह आलेख

सम्राट् मार्कस ऑरेलियस की काँसे की प्रतिमा

"ऑगस्टस सीज़र का अंतिम वक्तव्य" माना जाता है। इस आलेख में इस महान् रोमन सम्राट् ने अपनी प्रजा से विदा लेते हुए अपने संग्रामों, सुधारों और अपने शासनकाल में बनवाए गए भवनों को गिनाया है। उपर्युक्त आलेख में 'आरा पेसिस' या शान्ति-पीठ नामक उपरोक्त स्मारक भवन का निम्न शब्दों में उल्लेख किया गया है—"स्पेन और गॉल को पूर्ण रूप से शांत करके मेरे लौटने पर सिनेट (सर्वोपरि रोमन व्यवस्थापिका सभा) ने मेरे वापस लौटने के उपलक्ष्य में धन्यवाद-प्रदर्शन के रूप में यह निश्चय किया कि केम्पस मारटियस नामक स्थान में एक वेदी या पीठस्थान का निर्माण कराया जाय और वह शांति देवी को उत्सर्ग कर दिया जाय।" शांति के इस महिमामय मंदिर के भग्न अंश आज दिन योरप के तमाम संग्रहालयों में बिखरे पड़े हैं। १९०२ में प्रो० पीटरसन नामक एक ऑस्ट्रियन पुरातत्त्ववेत्ता ने असली देवालय के मूल-स्थान का पता लगाया और बड़ी सावधानी के साथ खुदाई करके इस शान्ति के मंदिर के शेष भागों को धरती से १६ फ़ीट नीचे से खोद निकाला। 'आरा पेसिस' का सबसे मशहूर उभरा हुआ मूर्ति-चित्र वह फ्रीज़ है जिसमें ऑगस्टस के एक सार्वजनिक जुलूस का दृश्य है। इसमें ऑगस्टस अग्रपुरोहित के वेश में है और उसके साथ दो कॉन्सल (रोम के उच्च पदाधिकारी) और उनके परशुधारी अनुचरों (lictors) का एक दल है। इनके पीछे एक मनोरंजक दल और है, जिसमें महारानी लिविआ, सम्राट् का दामाद अग्रिप्पा, और उसका सौतेला पुत्र टीबेरियस है। तदुपरांत एन्टोनिया के साथ ड्रूसस छोटे-से जर्मेनिकस को हाथ पकड़कर आगे ले चलते हुए दिखाया गया है। इनके पीछे सिनेट के सदस्यों और उच्च कुलीन रोमन पैट्रीशियनों का झुंड है, जो टोगा नामक अपनी लंबी पोशाक में बड़ी गंभीरतापूर्वक क़तार बाँधकर चल रहे हैं। रोमन राज्य के उच्च पदाधिकारियों और अमीर वर्ग के लोगों के इस जुलूस का जैसा यथार्थवादी चित्रण इसमें किया गया है उससे श्रेष्ठतर चित्रण कहीं नहीं मिलता। आरा पेसिस की सजावट की कारीगरी रोमन कला के चरम उत्कर्ष की झलक हमें देती है। उसमें हमें प्रकृति के प्रति रोमन लोगों का एक गंभीर अनुराग दृष्टिगत होता है, जिसका ऊपरी फ्रीज़ पर अंकित मानव-मूर्त्तियों की गहरी यथार्थवादिता के साथ पूरी तरह सामंजस्य दिखाई देता है। संक्षेप में, 'आरा पेसिस' या शान्ति-पीठ का यह स्थान आरंभ से अपने निर्माण के युग तक की रोमन कला के इतिहास का एक गौरवपूर्ण संक्षिप्त चित्रपट-सा है, जिसमें एक ओर उत्तरकालीन ग्रीक युग की परंपरा की याद दिलानेवाली अनेक बातें हैं तो दूसरी ओर वे मानव-मूर्त्तियाँ हैं जो निश्चय ही इट्रस्कन यथार्थवादिता की ही विकसित रूप थीं। जहाँ उसमें प्रजातंत्र-युग की पुष्पमालाओं का भी अंकन है, वहाँ अंत में ऑगस्टस सीज़र के परिवार के चित्रांकन के रूप में साम्राज्य-शक्ति की विजय का भी सुस्पष्ट आलेख है।

ऑगस्टस के युग की दो रोमन महिलाओं की मूर्त्तियाँ

नवीनता के समावेश की यह भावना ऑगस्टस के युग के रोम नगर के महान् सार्वजनिक भवनों और राजप्रासादों में ही नहीं दृष्टिगत होती, बल्कि साधारण घरेलू स्थापत्य में भी उसकी छाप हमें नज़र आती है। दुर्भाग्य से रोम की ख़ानगी इमारतें काल के निर्मम हाथों द्वारा कभी की मिट्टी

में मिल चुकी हैं। अतएव हमें रोमन साम्राज्य के दूसरे महान् ऐतिहासिक नगर पाम्पिआई की ओर मुड़ना होगा, जिसे वेसूवियस नामक ज्वालामुखी ने बाद में आनेवाली पीढ़ियों के लिए अपनी उगली हुई लावा के नीचे दबाकर मानों मोमियाई की तरह सुरक्षित कर दिया था। इस मशहूर नगर के दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास से सब कोई इतने अधिक परिचित हैं कि उसको फिर से दोहराने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। लार्ड लिटन ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'पाम्पिआई नगर के अंतिम दिवस" में इसकी कथा को सदा के लिए अमर कर दिया है, और साहसी चित्रपट बनानेवालों ने प्रायः प्रत्येक देश के निवासियों को उससे परिचित कर दिया है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के लगभग एक शताब्दी के अथक परिश्रम और अध्यवसाय के फलस्वरूप यह प्राचीन नगर क़रीब-क़रीब सारा-का-सारा खोदकर खुला कर दिया गया है और आज दिन हम पाम्पिआई के इतिहास और जीवन के संबंध में मध्ययुग के किसी नगर से भी कहीं अधिक बातें जानते हैं।

रोमन गृह की प्रधान विशेषता 'एट्रियम' नामक वह छतदार कक्ष था, जिसमें आसमान की ओर एक खुला वातायन रहता था। यह वातायन 'इम्प्लूवियम' के नाम से पुकारा जाता था। 'इम्प्लूवियम' के ठीक नीचे वर्षा के पानी को जमा करने के लिए एक हौज़ बना रहता था। यह हौज़ कभी-कभी पुष्पित कुमुदिनी और सुनहली मछलियों से सुशोभित रहता था। 'एट्रियम' की दीवारें कभी-कभी एक ख़ास ऊँचाई तक संगमरमर से विभूषित रहती थीं, किन्तु प्रायः कम ख़र्च के ख़याल से इसके बदले रंगीन प्लास्टर ही का प्रयोग होता था। यह सजावट बहुत ही तड़क-भड़कदार रंगों से की जाती थी। दीवार या तो रंगीन संगमरमर से विभूषित रहती थी या उसकी उस पर नक़ल बना दी जाती थी। इन दीवारों की कँगनी रँगी रहती थीं। यदा-कदा दरवाज़े और दीवार में उभरे हुए खंभे भी रँग दिए जाते थे, किन्तु प्रत्येक दशा में वे दीवार की सजावट को किसी क़द्र घटने न देते थे। यह रोमन सजावट की 'प्रथम शैली' के नाम से पुकारी जाती है। संभव है इसकी उत्पत्ति का स्रोत उत्तरकालीन अथवा एलैक्ज़ेंडर के युग की ग्रीक कला रही हो।

जर्मेनिकस की स्त्री अग्रिप्पिना की मूर्त्ति

ट्राजान के स्मारक-स्तंभ पर अङ्कित मूर्त्ति-चित्रों का एक भाग

'स्थापत्य-शैली' शीघ्र ही इतनी अधिकता से काम में लाई जाने लगी कि रोम की चहार-दीवारी के बाहर बने हुए अनेक शाही कुंज-भवनों में से एक में हम सारी-की-सारी दीवार को एक पुष्पित झाड़ी के चित्र से विभूषित पाते हैं। इसमें मनोहर वृक्षों के समूह छत तक अपना सिर उठाए हुए चित्रित हैं और उनमें विविध-रंगों के पक्षी भी दिखाए गए हैं। यह मुश्किल से 'स्थापत्य शैली' कही जा सकती है, परन्तु सजावट का सिद्धान्त इसमें वही है। यह भी दीवारों की सजावट द्वारा कमरे को वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाने का ही एक प्रयास है।

सजावट की इन रोमन शैलियों का चूँकि पाम्पिआई में ही अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक अध्ययन किया गया है, अतएव ये भित्ति-शृंगारकला की 'पाम्पिआई शैलियाँ' के नाम से भी अभिहित की जाती हैं। पाम्पिआई शैली की प्रथम शैली, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, 'इन्क्रुस्टेशन' या संगमरमर शैली के नाम से पुकारी जाती है ('इन्क्रुस्टेशन' 'क्रुस्टा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—'संगमरमर की एक तख्ती')।

दूसरी शैली 'स्थापत्य-शैली' के नाम से पहचानी जाती है, क्योंकि इसमें एक ऐसी स्थापत्यमूलक रचना का प्रयोग किया जाता है, जिससे देखनेवालों पर पीछे की ओर बहुत दूर तक फैले हुए विस्तृत दृश्य का प्रभाव पड़ता है। यह नाम उपयुक्त ही है, क्योंकि सचमुच ही इस शैली से सजाए गए भवन में स्तम्भ-पंक्तियों और अन्य स्थापत्यमूलक विशेषताएँ ऐसी दिखाई देती हैं, मानों वे दीवारों से पृथक् हों, जिससे देखनेवाले के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि जैसे पीछे बहुत गहराई तक दृश्य फैला हुआ है। इस प्रकार वह कमरा उसे वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाई देने लगता है। सजावट की यह

रोमन भित्ति-सजावट की तीसरी शैली 'आलंकारिक शैली' कहलाती है। इस शैली में पीछे की ओर गहराई दिखाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। सारी दीवार समान रूप से एक ही रंग में रँग दी जाती है—सफ़ेद, काले, या एक निराले ढंग के लाल रंग में, जिसका नाम 'पाम्पिअन लाल रंग' पड़ गया है। इसी पृष्ठभूमि पर हज़ारों तरह के छोटे आकार के अलंकार चित्रित रहते थे। यहाँ आपको पुष्पमालाओं की फ्रीज़ें (जो कि साँची, भारहुत, और ग्रीक-भारतीय मूर्त्तियों में भी आम तौर से पाई जाती हैं), इन्हीं मालिकाओं के गुँथे हुए खड़े हार, छद्मवेश की आकृतियाँ, छोटी-छोटी टोकरियाँ, और विशेषकर शोभा के लिए लटकाए जानेवाले परदों आदि सभी के चित्र देखने को मिलते हैं। ये सब बड़ी सुसंगति के साथ सजाये रहते थे और उनके रंग दीवार की चकाचौंध पैदा करनेवाली तड़क-भड़क को कुछ मंद और मधुर बना देते

तीसरी शताब्दी ईस्वी की एक रोमन मानव-मूर्ति

यह संभवतः सम्राट् फिलिप्पस माइनर के शीश-भाग की मूर्त्ति है। मूर्त्ति संगमर्मर में बनी है।
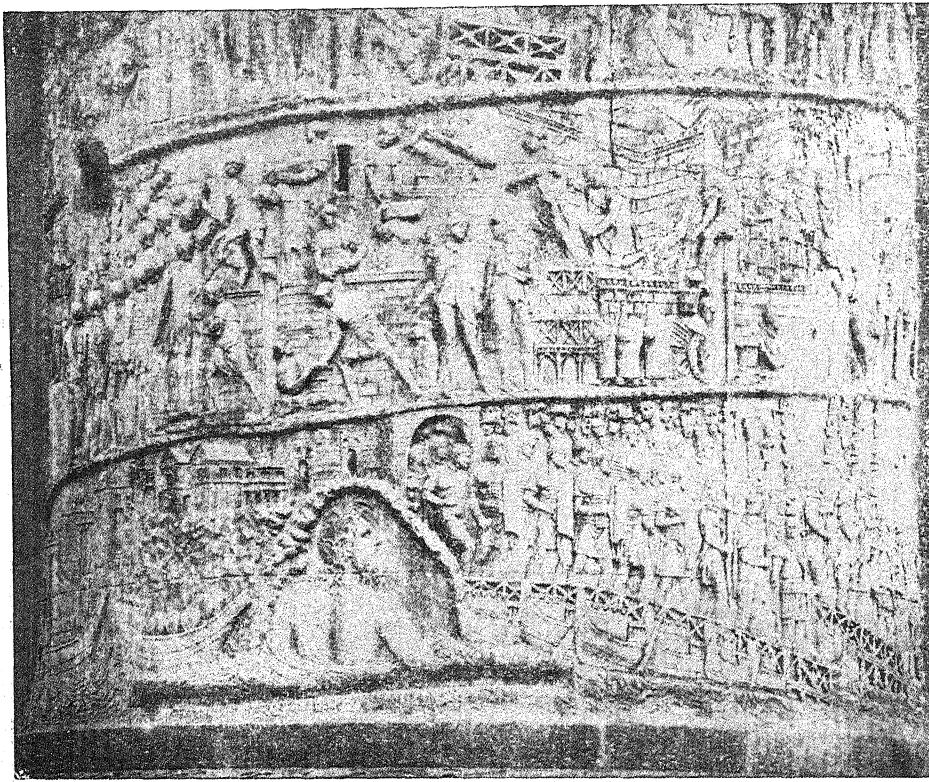
ट्राजान के स्मारक-स्तंभ पर अङ्कित मूर्ति-चित्रों का एक भाग

'स्थापत्य-शैली' शीघ्र ही इतनी अधिकता से काम में लाई जाने लगी कि रोम की चहार-दीवारी के बाहर बने हुए अनेक शाही कुंज-भवनों में से एक में हम सारी-की-सारी दीवार को एक पुष्पित झाड़ी के चित्र से विभूषित पाते हैं। इसमें मनोहर वृक्षों के समूह छत तक अपना सिर उठाए हुए चित्रित हैं और उनमें विविध-रंगों के पक्षी भी दिखाए गए हैं। यह मुश्किल से 'स्थापत्य शैली' कही जा सकती है, परन्तु सजावट का सिद्धान्त इसमें वही है। यह भी दीवारों की सजावट द्वारा कमरे को वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाने का ही एक प्रयास है।

सजावट की इन रोमन शैलियों का चूँकि पाम्पिआई में ही अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक अध्ययन किया गया है, अतएव ये भित्ति-शृंगारकला की 'पाम्पिआई शैलियाँ' के नाम से भी अभिहित की जाती हैं। पाम्पिआई शैली की प्रथम शैली, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, 'इन्क्रुस्टेशन' या संगमरमर शैली के नाम से पुकारी जाती है ('इन्क्रुस्टेशन' 'क्रुस्टा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—'संगमरमर की एक तख्ती')।

दूसरी शैली 'स्थापत्य-शैली' के नाम से पहचानी जाती है, क्योंकि इसमें एक ऐसी स्थापत्यमूलक रचना का प्रयोग किया जाता है, जिससे देखनेवालों पर पीछे की ओर बहुत दूर तक फैले हुए विस्तृत दृश्य का प्रभाव पड़ता है। यह नाम उपयुक्त ही है, क्योंकि सचमुच ही इस शैली से सजाए गए भवन में स्तम्भ-पंक्तियों और अन्य स्थापत्यमूलक विशेषताएँ ऐसी दिखाई देती हैं, मानों वे दीवारों से पृथक् हों, जिससे देखनेवाले के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि जैसे पीछे बहुत गहराई तक दृश्य फैला हुआ है। इस प्रकार वह कमरा उसे वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाई देने लगता है। सजावट की यह

रोमन भित्ति-सजावट की तीसरी शैली 'आलंकारिक शैली' कहलाती है। इस शैली में पीछे की ओर गहराई दिखाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। सारी दीवार समान रूप से एक ही रंग में रँग दी जाती है—सफ़ेद, काले, या एक निराले ढंग के लाल रंग में, जिसका नाम 'पाम्पिअन लाल रंग' पड़ गया है। इसी पृष्ठभूमि पर हज़ारों तरह के छोटे आकार के अलंकार चित्रित रहते थे। यहाँ आपको पुष्पमालाओं की फ्रीज़ (जो कि साँची, भारहुत, और ग्रीक-भारतीय मूर्त्तियों में भी आम तौर से पाई जाती हैं), इन्हीं मालिकाओं के गुँथे हुए खड़े हार, छद्मवेश की आकृतियाँ, छोटी-छोटी टोकरियाँ, और विशेषकर शोभा के लिए लटकाए जानेवाले परदों आदि सभी के चित्र देखने को मिलते हैं। ये सब बड़ी सुसंगति के साथ सजाये रहते थे और उनके रंग दीवार की चकाचौंध पैदा करनेवाली तड़क-भड़क को कुछ मंद और मधुर बना देते

थे। सजावट की यह आलंकारिक शैली ख़ासकर रोमन सम्राट् नीरो के ज़माने में बहुत अधिक प्रचलित हुई और उसके सुप्रसिद्ध 'सुनहले प्रासाद' में अब भी इस शैली के चिह्न हमें देखने को मिल जाते हैं। इस सुनहले प्रासाद के ध्वंसावशेषों पर ही टाइटस के स्नानागार का भवन इस तरह बनाया गया था कि नीरो का यह प्रासाद उसकी कुर्सी या आधार बन गया था। १५ वीं शताब्दी में जब टाइटस के स्नानागार के नीचे से इस महल के अवशेष खोद निकाले गए उस समय वे धरती के भीतर कंदराओं (Grottoes) के रूप में पाए गए। इसी कारण उनकी कुछ आलंकारिक विशेषताओं को 'ग्रोटेस्को' (Grotesco) या आधुनिक अंग्रेज़ी में 'ग्रोटस्क' कहकर पुकारा गया।

पाम्पिआई के अंतिम दिनों में, प्रथम शताब्दी ईस्वी के अंत के लगभग एक चौथी शैली का आविर्भाव हुआ, जो भ्रान्तिवादी (Illusionism) कही जाती है। इस शैली में स्वाभाविकता का क़तई दावा नहीं किया जाता जैसा कि पहली और दूसरी शैलीवाले करते थे। अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इस शैली में स्थापत्य संबंधी आकृतियाँ छोटे-छोटे खंभों, फ्रीज़ों, खिड़कियों आदि के रूप में चित्रित की जाती थीं, परंतु वे एक ऐसी नूतन, असाधारण और जटिल रीति से पेश किए जाते थे, जो यथार्थवाद की दृष्टि से बिल्कुल ही अनजान लगते थे। फिर भी उनमें अपनी एक मनोहरता और आकर्षण होता था, जिससे बहुत ही नाज़ुक कल्पना का भाव टपकता था। इस शैली की मनोरमता अधिकांश में उन स्पष्ट रंगों के कारण है जो इतने छोटे-से आकार के घेरे में बनाई गई असंख्य आकृतियों मे यहाँ से वहाँ तक रचे हुए थे।

तीसरी और चौथी दोनों ही शैलियों में दीवार के मध्य भाग में किसी प्रसिद्ध ग्रीक चित्र की प्रतिलिपि बनी रहती थी। यह उक्त चित्र की किसी नक़ल की नक़ल होती थी, जो स्वयं न जाने कितनी नक़ल के बाद बनी होगी। स्थान के आकार-प्रकार के अनुसार संभवतः यह छोटी-बड़ी भी कर ली जाती थी। कुछ भी हो, पाम्पिआई के घरों के ये छोटे भित्ति-चित्र ही प्रायः अनेक प्रसिद्ध किंतु लुप्त प्राचीन चित्रों की एकमात्र बची हुई प्रतिलिपियाँ हैं। इन्हीं प्रतिलिपियों तथा कलश पर अंकित चित्रों एवं पच्चीकारी या मोज़ेक शैली के चित्रों की सामग्री ही से हम इस बात का कुछ अनुमान कर पाते हैं कि इनके मौलिक ग्रीक चित्र कैसे रहे होंगे।

स्वयं ऑगस्टस सीज़र की, जिसके राज्यकाल में रोमन कला के ये सब अंग प्रचुर रूप से पनपने और विकसित होने लगे थे, एलेक्ज़ेंडर महान् की भाँति बहुत अधिक मूर्त्तियाँ हैं। उसका चाचा महान् जूलियस सीज़र कलाओं का एक उदार आश्रयदाता और पोषक था। वास्तव में वह अपने युग से कहीं आगे बढ़ा हुआ व्यक्ति था। वह ऐसा मालूम देता था मानों इस पृथ्वी पर बौनों के बीच कोई दैत्य विचर रहा हो। युवा ऑक्टेवियन (ऑगस्टस सीज़र) को अपने प्रसिद्ध चाचा से वसीयत के रूप में उसके कई गुण मिले थे, जिसमें से एक यह था कि उसकी तरह यह भी कलाकारों से अपना चित्र या मूर्त्ति बनवाने का बड़ा शौक़ीन था। इस प्रकार हम उसे १४ वर्ष के एक लड़के के रूप में, २५ के युवा के रूप में, अपने सैनिकों के प्रति संभाषण करते हुए रोमन सम्राट् के रूप में, अग्रपुरोहित के रूप में और अन्य अनेकों भेषों में चित्रित देखते हैं। रानियों और देश की अन्य उच्च महिलाओं के भी विविध वेशभूषा और केश-विन्यास के साथ भिन्न-भिन्न रूप में उतारी गई काफ़ी प्रतिमूर्त्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उनका साधुत्व अथवा उनके व्यसन अमिट भाव से हमें उनके चेहरे पर अंकित दिखाई देते हैं। रोमन मानव-मूर्त्तिकारों की कृतियों की सजीवता के गुण का मोल आँकने के लिए महज़ यही काफ़ी होगा कि ऑगस्टस की पत्नी लीविया अथवा ड्रूसस की स्त्री एन्टोनिया की मूर्त्तियों पर एक नज़र डालकर क्लाडियस की दुराचारिणी स्त्री व नीरो की मा अग्रिप्पिना अथवा थिसेलिना, फास्टीना, पोप्पिया तथा इसी तरह की अन्य सम्राज्ञियों की मूर्त्तियों से उनकी तुलना की जाय। पहली मूर्त्तियाँ जहाँ स्त्री की तरुणाई की निर्मलता, गंभीरता, एवं मधुरिमा के एक अति सूक्ष्म भाव से अभिभूत हैं वहाँ बाद को गिनाई गई कृतियों में जिनकी मूर्त्तियाँ हैं उनके चरित्र की पतनावस्था पर स्पष्ट रूप से कलाकार की टीका अब भी पढ़ी जा सकती है।

संक्षेप में सभी रोमन मानव-मूर्त्तियों की एकमात्र कुंजी निर्दयतापूर्वक चरित्रचित्रण कहा जा सकता है। रोम के विशिष्ट सामाजिक और प्रजासत्तात्मक वातावरण के कारण कलाकारों को चित्र या मूर्त्ति बनवानेवालों के साथ घनिष्ट रूप से हिलमिलकर अतिनिकट भाव से उनका अध्ययन करने का अवसर मिल जाता था, जिसके फलस्वरूप निश्चय ही उनके सूक्ष्म निरीक्षण, विवेचन और चरित्र-विश्लेषण की शक्ति बहुत अधिक तीव्र हो जाती थी। इस युग में मानव-मूर्त्तियाँ अब जाति-विशिष्ट न रहीं, बल्कि स्पष्ट रूप से वे व्यक्ति-विशिष्ट हो गईं। ट्राजान का स्मारक-स्तंभ,
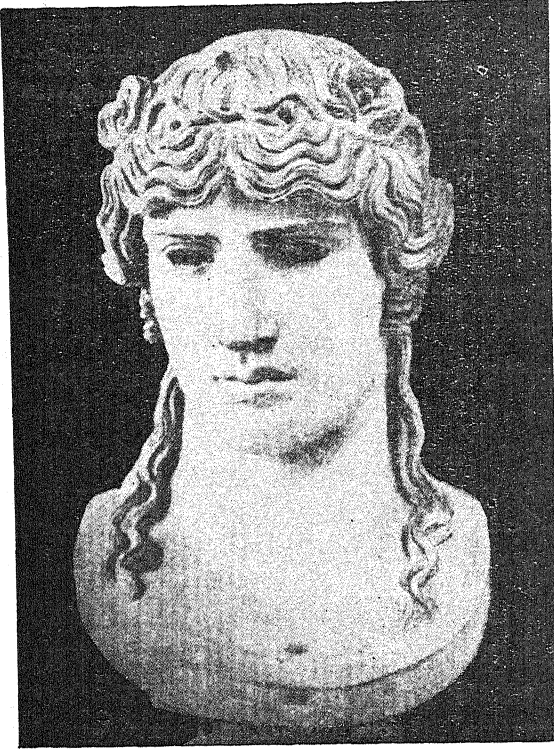
एन्टोनियस की एक मूर्त्ति

जिसका कि उल्लेख हम पिछले लेख में कर ही चुके हैं, एक स्मारक के उद्देश्य से बना होने के बावजूद वास्तव में एक मानव-मूर्त्तियों की लंबी-सी प्रदर्शनशाला ही है। यह सच है कि वीरता का प्रदर्शन ही उसका मुख्य विषय है, फिर भी हमें उसमें बार-बार उसके संस्थापक सम्राट् के जीवन के अति घनिष्ठ चित्र देखने को मिलते हैं। इसका रचयिता डेमेस्कस का प्रसिद्ध कलाकार अपोलोडोरस था, जो सम्राट् ट्राजान के साथ उसकी युद्ध-यात्राओं में गया था और डैन्यूब-तटीय उसके संग्रामों का बड़ी ही चतुराई के साथ उसने इस स्मारक पर एक ख़ाका खींच दिया है।

ट्राजान के बाद एक और महान् रोमन सम्राट् गद्दी पर बैठा। इसका नाम हैड्रियान था और ट्राजान की तरह यह भी स्पेन का रहनेवाला था। यह सुन्दर वस्तुओं का बड़ा ही प्रेमी था। स्थापत्य, मिट्टी के पात्र, घोड़ों और नवयुवकों की परख में वह बड़ा उस्ताद था। यात्रा का उसे बहुत शौक़ था और सभी के अच्छे विचारों का संग्रह करने की उसमें एक सुसंस्कृत टेव थी। किसी भी देश में जो कुछ भी कला-पूर्ण वस्तु उसे दिखाई पड़ती, उसको अपने सुप्रसिद्ध कुंज-भवन में संग्रह कर प्रतिष्ठापित करने का वह प्रयत्न करता। मिस्र की कला के लिए उसके मन में बहुत अधिक झुकाव था और वहाँ की शैलियों का अपने अनेक महलों में विस्तार के साथ उसने उपयोग किया था। इसकी सौंदर्यलिप्सा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब उसने यह आज्ञा दी कि उसका युवा प्रिय पात्र एन्टोनियस एक अर्द्ध-देवता के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया जाय। यह बिथाइनियन युवक, जो अपने शारीरिक सौंदर्य के लिए इतना अधिक प्रसिद्ध था, एक अजीब रहस्यमय ढंग से नील नदी में डूबकर मर गया। हैड्रियान अपने इस अभागे प्रेमपात्र की याद कभी भी न भुला सका और उसने उसके सम्मान में मिस्र में एक नवीन नगर का निर्माण करने की आज्ञा दी। इस युवक की मूर्त्ति के बनाने में सम्राट् के मूर्त्तिकारों ने उसे आदर्श रूप में चित्रित कर एक नवीन कलात्मक शैली का निर्माण किया, जो पुरातन कला की अंतिम शैली कही जा सकती है। एन्टोनियस की हज़ारों ढंग से प्रतिमूर्त्तियाँ बनाई गई हैं। किन्तु सबमें वही एक विशेषता दिखाई देती है—अर्थात् पौरुष के साथ स्त्रैण विलासिता का मिश्रण।

एक और विशेष आकृति, जो इस युग की रोमन कला में प्रायः देखने को मिलती है, बर्बर बंदिनी की प्रतिमूर्त्ति है। रोमन नागरिकों की मिथ्या दर्प-भावना को इस विचार से बड़ी ही आत्म-तुष्टि मिलती थी कि बर्बर लोगों की न केवल भूमि ही रोमन साम्राज्य के प्रान्तों में परिणत कर दी गई, वरन् उनकी स्त्रियाँ भी रोमन सेनाधिपतियों की विजय की साक्षी के रूप में पकड़कर लाई गई हैं और घसीटी जा रही हैं। तथाकथित बर्बर बंदिनी टुस्नेल्दा की प्रतिमा इस तरह की कृतियों का एक विशिष्ट उदाहरण है और उससे असहायता और अश्रुसिंचित करुणा का ऐसा भाव टपकता है कि जैसा रोमन कला में बहुत ही कम देखने को मिल सकता है। अन्य जाति के बंदियों की मूर्त्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं और उनमें जिन लोगों की प्रतिमूर्त्ति अंकित की गई है, उनके जातिगत लक्षण बड़े मार्के के साथ चित्रित हैं। इस प्रकार हम इस युग की रोमन मूर्त्तियों में किसी भी उत्तरकालीन ग्रीक, जर्मन, स्पेनियार्ड या डेसियन जाति के व्यक्ति की जातिगत विशेषता को तुरंत ही पहचान सकते हैं। यही एक बात किसी क़द्र कम सफलता की सूचक नहीं हैं।

विजयिनी रोमन सेनाओं का पदानुसरण करते हुए रोमन कला गॉल (आधुनिक 'फ्रान्स'), हिस्पानिया (आधुनिक 'स्पेन'), इंगलैंएड, लीबिया, साइरेनाइका, सीरिया और अन्य अनेक दूर-दूर के देशों में जा पहुँची और रोम के सुदूरव्यापी साम्राज्य में जगह-जगह वह रोमन संस्कृति के उत्कृष्ट स्मारक अपने पीछे छोड़ गई है।

उत्तरी हिम-प्रदेश के निवासी एस्किमो—(१)

इस स्तंभ के पिछले कुछ लेखों में आपको सभ्यता से परे की दुनिया में बसनेवाली अन्य अनेक आदिम जातियों के जीवन-क्रम का परिचय मिल चुका है। आइए, इस और इसके आगे के लेख में हम एक और अनोखी मानव जाति का विवरण आपको सुनाएँ, जो ध्रुव प्रदेश में पिछले हज़ारों साल से प्रकृति के साथ संघर्ष कर रही है।

चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़। पेड़-पौधों का कहीं नाम भी नहीं। एक अजीब धुंध। कुहरा और अंधकार। सूरज महीनों ग़ायब। ख़ून को भी जमा देनेवाली कड़कड़ाती सर्दी। तापमान शून्य से ३०-४० अंश नीचे तक गिरा हुआ। आँधी—बदन को काटती, चीत्कार करती, सौ-सवा सौ मील प्रति घंटे की रफ़्तार से भागती बर्फ़ीली आँधी। नंगे, एकदम खड़े खिसकते हिम के पहाड़। हिमानियाँ—अरअराती हुई धीरे-धीरे सरकती बर्फ़ की नदियाँ। जानवर के नाम पर एक पखेरू तक नहीं। केवल समुद्र पर बिछी बर्फ़ीली चादर के नीचे चुपचाप तैर रही कुछ ख़ास तरह की मछलियों और उनका शिकार कर अपना निर्वाह करनेवाले वालरस, सील, ह्वेल या सफ़ेद भालू जैसे कुछ अनोखे जीवों का ही बोल बाला। आसमान में भी कहीं न देखी-सुनी गई प्रकृति की एक अजीब लीला। देखते-देखते धुँधले आकाश में इन्द्रधनुष को भी मात कर देनेवाले निरंतर थिरकते हुए एक विचित्र रंग-बिरंगे प्रकाश-पुंज का आविर्भाव। घंटों इसी प्रकार प्रकृति का खिलवाड़—मानो आसमान में आग लग गई हो। फिर वही अंधकार, वही आँधी!

क्या इस दिल दहला देनेवाले वातावरण में जीवन-यापन करनेवाले मानव की भी कल्पना की जा सकती है? प्रकृति के इस प्रलय-ताण्डव में सम्मिलित होकर, उसके ताल-स्वर पर पैर उठाने—उसकी ललकार का अट्टहास्य द्वारा प्रत्युत्तर देने—का साहस और सामर्थ्य रखनेवाले उस नर-वीर की हड्डियाँ किस पदार्थ की बनी होंगी? निस्संदेह, उसकी रूप-रेखा सहज ही हमारे मन में नहीं खिंचने
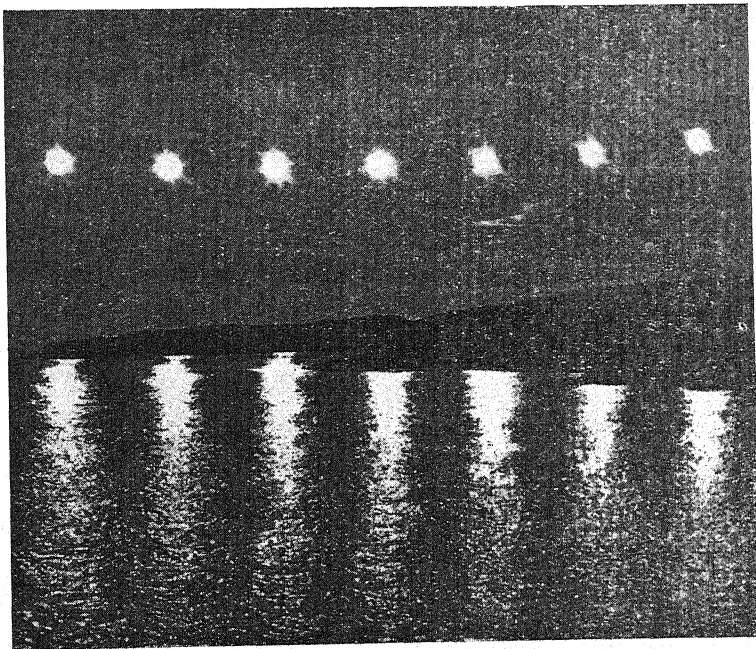
ध्रुव-प्रदेश में रात्रि के समय भी कभी-कभी इसी तरह सूर्य दिखाई देता है इस फ़ोटो में सूर्य की भिन्न-भिन्न समय की स्थिति अंकित है।
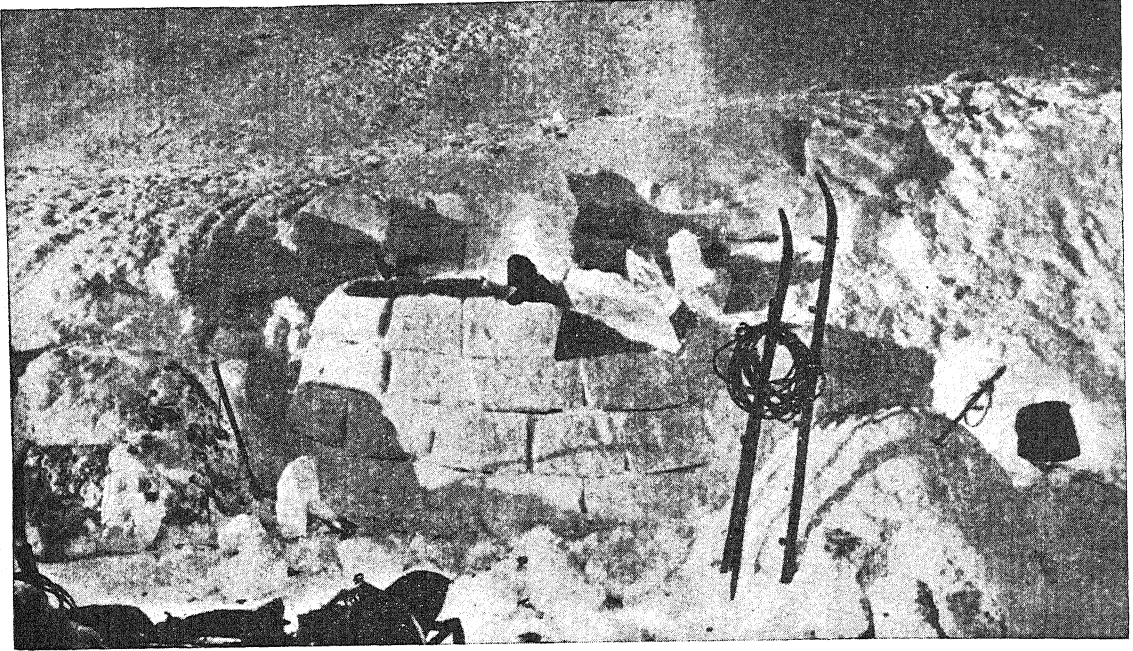
ग्रीनलैण्ड के एस्किमो इसी तरह बर्फ़ के मकान बनाकर उनमें ध्रुव-प्रदेश की लंबी जाड़े की रातें काटते हैं बर्फ़ की शिलाओं के टुकड़े काटकाटकर किस प्रकार ये लोग उन्हें एक-दूसरे पर रचकर गुंबजनुमा मकान बनाते हैं यह इस फ़ोटो में दिखाया गया है।

की। हमें भीषण लू-लपट से तपे हुए पथरीले रेतीले रेगिस्तानों, आँधी-पानी-तूफ़ान से रात-दिन घिरे घने जंगलों-वाले दलदली निर्जन टापुओं, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों और निर्जल पठारों में मोर्चा बाँधकर प्रकृति से निरंतर लड़ाई लड़ते रहनेवाले मानव का अस्तित्व असंभव नहीं प्रतीत होता, पर ऊपर वर्णन किए गए कठोर वातावरण में भी मनुष्य उसी भाँति संघर्ष कर रहा होगा, यह एकाएक हमारी कल्पना में नहीं आ सकता। किन्तु प्रकृति की लीला जैसी विचित्र और अनंत है, मनुष्य की शक्ति और जीवनलीला भी उससे किसी दर्जे कम विचित्र नहीं है। आप यह जानकर अचरज करेंगे कि पिछले हज़ारों वर्षों से मनुष्यों की एक छोटी-सी टुकड़ी ऊपर वर्णित बर्फ़ीले मोर्चे पर भी डटकर अकेले ही प्रकृति से लोहा ले रही है! उसकी यह संग्राम-भूमि अमेरिका के उत्तर-पूर्व में स्थित ध्रुव से सटे हुए ग्रीनलैण्ड के विशाल द्वीप से लगाकर पश्चिम में अलास्का और बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य के उस पार साइ-बेरिया के उत्तर-पूर्वीय नोकीले कोने तक पसरी हुई है। यह सारा का सारा विशाल क्षेत्र, कुछ जल और स्थल भागों को छोड़कर, एक अखण्ड बर्फ़ की चादर से ढका रहता है, जो शीतकाल में शेष भागों को भी ढाँप लेती है। अकेले ग्रीन-लैण्ड का ही विस्तार लगभग ८२७३००० वर्गमील अर्थात् भारतवर्ष के आधे से भी अधिक है। लगभग एक महाद्वीप का विस्तार! फिर भी इस विस्तृत प्रदेश की कठोर बर्फ़ीली दीवार से टक्कर लेनेवाले उन साहसी मनुष्यों की संख्या कितनी परिमित है—केवल ३० हज़ार प्राणी! किन्तु संख्या में कम हुए तो क्या, साहस और वीरता में तो वे ३० लाख को भी मात कर सकते हैं। इसी से तो उन्होंने इस प्रदेश में पिछले हज़ारों वर्षों से अपने पैर मज़बूती से जमा रक्खे हैं। अपनी सारी शक्ति को लेकर भी प्रकृति उन्हें वहाँ से उखाड़ फेंकने में सफल नहीं हो पाई है। प्रकृति की कठो-रता के कारण उनकी शक्ति का ह्रास होना तो दूर रहा, उल्टे उन्हें उसका सामना करने के लिए और बल मिल गया है!

सचमुच ही ये लोग मौजूदा मनुष्यों में सबसे अनोखे हैं। ये इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि मनुष्य में कठोर से कठोर वातावरण के भी अनुकूल अपने आपको बना लेने की कैसी विचित्र शक्ति छिपी हुई है। ये लोग मानों इस पृथ्वी के उत्तरी बर्फ़ीले सीमा-प्रान्त के रखवाले हैं। जिस क्षेत्र में क़दम रखते हुए भी दुनिया के अन्य मनुष्य घबड़ाते उसी को इन लोगों ने अपना घर बना

लिया है ! जिस दशा में दूसरों के लिए जीवन का अस्तित्व बनाए रखना भी दूभर हो जाता, वहीं इन लोगों के जीवन का आरंभ होता है। मानों इसी तरह के वातावरण के लिए ही वे बने हों—इससे बाहर पनपना उनके लिए मुश्किल है। यही कारण है कि अपने इस विशुद्ध वातावरण में बाहर की हवा भी आने देना ये लोग गवारा नहीं कर सकते।

हाँ, वास्तव में, पृथ्वी की अन्य अनेक आदिम जातियों की तरह इन लोगों के लिए भी बाहरी सभ्यता की छूत घातक ही सिद्ध हुई है। जैसा कि हम आगे चलकर अगले लेख में देखेंगे, इस छूत ने उनके यहाँ जाकर प्राण-हारी महामारी का काम किया है और उनके पार्थिव अस्तित्व तक को ख़तरे में डाल दिया है ! उन्हें ध्रुव-प्रदेश की बर्फ़ीली आँधी और कड़ाके की सर्दी तो न डिगा सकी, न आहार और सुख के साधनों की कमी ही उन्हें विचलित कर पाई, किन्तु एक विदेशी सभ्यता की छूत ने उनके पैर उखाड़ दिए ! अचरज नहीं, यदि इसी के परिणामस्वरूप एक दिन इन वीर और साहसी लोगों का इस दुनियाँ से नाम ही उठ जाय !

ध्रुव-प्रदेश के इन अनोखे निवासियों को सभ्य संसार 'एस्किमो' के नाम से पहचानता है। इस जाति का अध्ययन करनेवालों में प्रमुख डा० रिन्क के अनुसार 'एस्किमो' नाम इन लोगों को इनके दक्षिण के पड़ोसी अमेरिकन इंडियनों द्वारा दिया गया है। इंडियनों की भाषा में इस शब्द का अर्थ 'कच्चा मांस खानेवाला' होता है, जो एस्किमो लोगों के आहार-विहार को देखते हुए सार्थक ही है। परन्तु स्वयं एस्किमो अपने आपको 'इनुइत' कहते हैं, जिसका अर्थ उनकी भाषा में होता है 'मानव'। क्या ही सुंदर, सरल और स्वाभाविक नाम उन्होंने अपने लिए चुना है ! किन्तु आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि ये लोग केवल अपने आपको ही 'मनुष्य' समझते हैं, अपने अलावा अन्य सभी मनुष्यों को वे किसी और वर्ग के ही जीवधारी मानते हैं !

एस्किमो लोग, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ग्रीनलैण्ड से लगाकर अलास्का और बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य के उस पार तक बिखरे पाये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों से इनकी रगों में गोरी जातियों का भी रक्तमिश्रण हो गया है, अतएव अब विशुद्ध एस्किमो इने-गिने ही मिलते हैं। फिर भी ग्रीनलैण्ड में बसनेवाले किसी भी विशुद्ध रक्तवाले एस्किमो और ३००० मील दूर बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य के पार या अलास्का में पाए जानेवाले एस्किमो की बोली, सूरत-शक्ल और रहन-सहन में इतनी मौलिक समानता है कि यह दृढ़ धारणा होती है कि ये सब किसी एक ही अतिप्राचीन मूल आदिम जाति के वंशज हैं, जो किसी समय इस विशाल क्षेत्र के विभिन्न भूभागों में बिखर गई थी। अधिकांश मानव-वैज्ञानिकों का मत है कि एस्किमो उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनों की ही जाति के हैं—ये उन्हीं की एक उपशाखा हैं। इनके चेहरे की काट, आँखें, बाल, क़द सभी अमेरिकन इंडियनों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। केवल रंग उनसे अधिक गोरा है—सो शीतप्रधान वातावरण के कारण भी हो

एक एस्किमो पुरुष

यह शुद्ध नस्ल का एस्किमो है। इसके रक्त में गोरी जाति का रक्त मिश्रित नहीं हो पाया है। चेहरे से कैसी दृढ़ता और प्रसन्नता का भाव टपक रहा है !

सकता है। डा० रिन्क का मत है कि एस्किमो एक ज़माने में अलास्का के भीतरी भागों में रहते थे—वहीं से बाद को वे उत्तरी हिम-प्रदेशों में फैल गए। उनकी यह भी धारणा है कि एस्किमो भाषा अमेरिका की आदिम बोलियों से बहुत घनिष्ट रूप से संबंधित है और उनके औज़ार - हथियार, दंतकथाएँ व रीति-रिवाज भी अमेरिकन इंडियनों से संबंध रखते हैं। एक बात में निस्संदेह एस्किमो अमेरिकन इंडियनों से नहीं मिलते, और वह है उनमें कुत्तों से खींची जानेवाली स्लेज-गाड़ियों का प्रयोग। एक सिद्धान्त यह भी है कि लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व आज के एस्किमो के पुरखे कनाडा की सुपीरियर झील के उत्तर में छाये घने जंगलों के
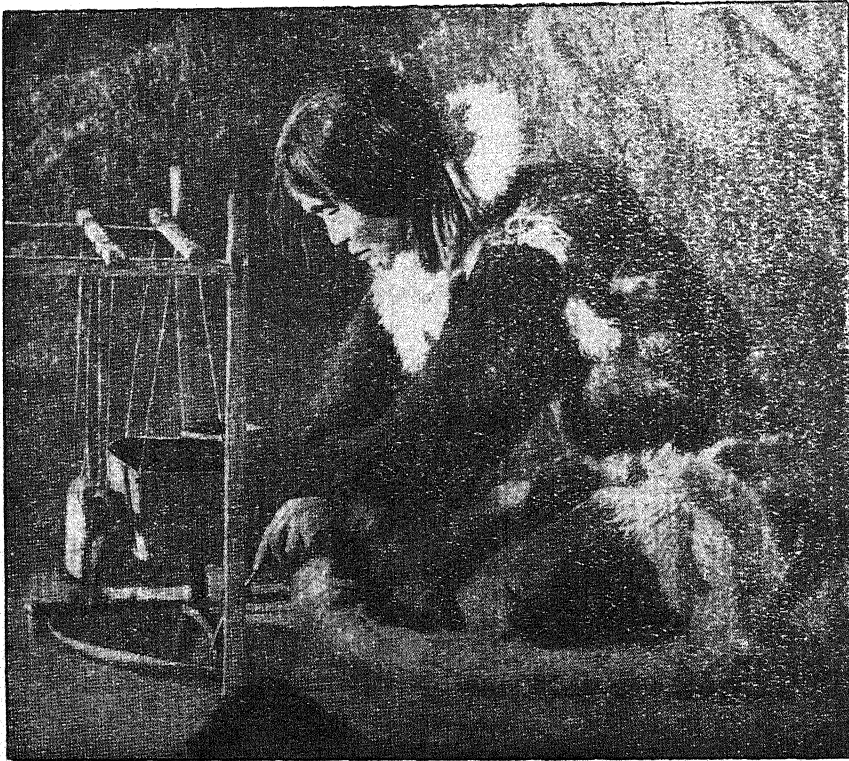
(ऊपर) एक एस्किमो स्त्री बर्फ़ में गड्ढा करके नीचे पानी में की मछलियों का शिकार कर रही है। (नीचे) एस्किमो महिला इसी तरह भोजन पकाती है।

उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के बर्फ़ीले मोर्चे पर डटे हुए एस्किमो

चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़, रहने को भी बर्फ़ का ही मकान, खाने को मछलियाँ या सील जैसे जल-जीव, पहनने को इन्हीं जानवरों की खाल, इस पर प्रति पल प्रकृति के विचित्र भयप्रद नग्न ताण्डव का थिरकता हुआ चित्रपट—आँधी, बिजली, तूफ़ान और आकाश में 'उत्तरीय प्रकाश' या 'अरोरा' का अद्‌भुत् नृत्य ! फिर भी मानव वहाँ डटा हुआ है !

वासी थे। यहाँ से वे उत्तर की ओर बढ़े और क्रमशः उनकी दो मुख्य शाखाएँ अलग-अलग फूट गईं। एक उत्तर-पूर्व की ओर छितरे हुए टापुओं की राह से ग्रीनलैण्ड में जा पहुँची और दूसरी सुदूर पश्चिम में अलास्का में जा बसी। उन्हीं में से कुछ बेयरिङ्ग-जलडमरूमध्य को पारकर साइबेरिया के पूर्वतम कोने में भी जा पहुँचे होंगे।

पहली ही निगाह में देखने पर एस्किमो को हम सुंदर तो किसी हालत में भी नहीं कह सकते, परन्तु जो कोई भी उन्हें देखेगा वह उनकी हँसमुख मुद्रा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। शायद ही संसार में और कोई जाति इतनी अधिक प्रसन्न रहती हो! कहते हैं, हम लोग साल भर में कुल मिलाकर जितना नहीं हँसते, उससे ज़्यादा एस्किमो लोग महीने भर में ही हँस लेते हैं! उनसे हँसे बिना रहा ही नहीं जाता। इसीसे कुछ लोग सोचते हैं कि शायद यह उनकी एक जन्मजात जातीय विशेषता हो। अन्य लोग इसका कारण उनके विशेष प्रकार के आहार या रहने के वातावरण में ही खोजते हैं। कुछ भी हो, उनका यह हास्य उनके आत्मसंतोष और आंतरिक सुख का सूचक अवश्य है। यही कारण है कि आठ-आठ दिन फाँका करने पर भी उनके चेहरे की मुसकान ग़ायब नहीं होती।

विशुद्ध नस्ल के एस्किमो का रंग भूरा-पिलौंहा, चेहरा गोल और चौड़ा, शरीर का डौल कुछ बेढंगा, आँखें काली, छोटी और कभी-कभी बेंड़ी भी, नाक चपटी, गाल गोल और चर्बीले, मुँह चौड़ा, जबड़े भारी व फैले हुए, तथा दाँत सफ़ेद और मज़बूत होते हैं। उनके चेहरे और हाव-भाव में उनके स्वतंत्र प्राकृतिक जीवन का पूरा चित्र प्रतिबिम्बित रहता है। यह सच है कि उनका जीवन अत्यंत कठोर है, फिर भी उनके अंग-प्रत्यंग से एक कोमल भाव ही टपकता है—उनमें कर्कशता का लेश भी नहीं पाया जाता। जिन लोगों में गोरी जातियों का रक्त मिश्रित हो गया है, उनके चेहरे की काट, रंग और शरीरगठन में एक सुघड़ता आ गई है और हमारी दृष्टि में वे सुंदर जँच सकते हैं, परंतु उनसे वह दृढ़ता का भाव नहीं टपकता जो विशुद्ध एस्किमो में दिखाई देता है।

क़द में एस्किमो नाटे नहीं कहे जा सकते। उनका क़द मँझोला कहा जा सकता है। लगभग छः फ़ीट तक की ऊँचाई के एस्किमो भी पाए गए हैं। इनके शरीर हट्टे-कट्टे और पुट्ठे मांसल होते हैं, परन्तु कमर से नीचे का हिस्सा प्रायः कम हृष्ट-पुष्ट पाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि इन्हें प्रायः दिन भर अपनी सँकरी-सी नौका में, जिसे ये 'काइआक' कहते हैं, सिकुड़कर बैठे रहना पड़ता है।

पहनावे में इनकी सबसे प्रधान विशेषता यह है कि स्त्रियों और पुरुषों दोनों की पोशाक में बहुत कम अंतर होता है—दोनों का पहनावा एक-सा ही मालूम देता है। पुरुष बदन में आधुनिक ऊनी जर्सी से मिलता-जुलता एक बाँहदार वस्त्र पहनते हैं, जिसे वे लोग 'तिमियाक' कहते हैं। यह सील या अन्य जानवरों की खाल को उलटकर बनाया जाता है। गले के ऊपर इसमें एक टोपानुमा पुछल्ला भी होता है, जो सिर पर टोपी की तरह पहन लिया जाता है अथवा यों ही पीठ पर मुड़ा पड़ा रहता है। कॉलर और बाँहों के छोर पर हमारे ओवरकोट की तरह कुत्ते की बालदार खाल लगी रहती है। 'तिमियाक' के ऊपर एक

एस्किमो अपनी 'काइआक' नामक नौकाओं पर चढ़कर शिकार करने के लिए जा रहे हैं।

और वस्त्र 'अ-नोराक' पहना जाता है, जो अब प्रायः सूती होता है। पैरों में सील की खाल, अथवा जब से योरप अमेरिका का संसर्ग हुआ है, ऊनी वस्त्र का एक पाजामा ये लोग पहनते हैं। इनके जूते भी बड़े विचित्र होते हैं। ये सील की खाल से बनाए जाते हैं और 'कामिक' के नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें दो पर्त्तें रहती हैं—एक जुर्राबनुमा भीतरी पर्त्त, जिसमें खाल का बालदार हिस्सा भीतर की ओर मुड़ा रहता है; दूसरी बाहरी बिना बालवाली मज़बूत चमड़े की पर्त्त, जिसमें से होकर पानी की एक बूँद भी भीतर नहीं घुस पाती। इन्हीं जूतों के सहारे इन लोगों के लिए बर्फ़ और पानी में चलना-फिरना संभव होता है।

एस्किमो बालकों का एक समूह

स्त्रियों की पोशाक पुरुषों से मिलती-जुलती ही होती है। दक्षिणी ग्रीनलैण्ड में वे बदन पर एक चमड़े की अँगिया पहनती हैं, जिसमें ऊपर की ओर एक उठा हुआ कॉलर रहता है। इस कॉलर पर प्रायः रंग-बिरंगे काँच के मनकों की एक चौड़ी माला ये लोग धारण करती हैं। इसके ऊपर पहना जानेवाला वस्त्र बड़ा ही तड़कभड़कदार और रंगीन होता है। उसके नीचे के किनारे पर प्रायः सूती या रेशमी वस्त्र की एक रंग-बिरंगी पट्टी या चौड़ी झालर लगी रहती है।

एक एस्किमो लड़का खाते हुए कैसा खुश है!

स्त्रियों के पाजामे पुरुषों से छोटे हुआ करते हैं—वे घुटनों तक ही पहुँचते हैं, किन्तु उनमें सामने की ओर बड़ी सजावट की हुई रहती है। इनके जूते पुरुषों के जूतों से कुछ ज़्यादा लम्बे होते हैं और पहनने पर घुटनों से भी ऊपर तक चले आते हैं। ये भी प्रायः लाल, नीले, सफ़ेद या आसमानी रंग से रँगे रहते हैं।

माताएँ एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनती हैं, जो 'अमाउत' कहलाता है। यह साधारण 'अनोराक' जैसा ही होता है—केवल पीठ की ओर उसमें एक बड़ा भारी जेब या थैला होता है, जिसमें वे अपने बच्चे को रखकर चाहे जो काम करती रहती हैं। बच्चा भी इसमें बड़े आराम से रहता है।

ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तटवासी एस्किमो लोगों में घर या डेरे के भीतर एकदम नंगा रहने की भी विचित्र प्रथा पाई गई है! पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे, सभी घर के भीतर बिना किसी वस्त्र के ही रहा करते हैं। कभी-कभी वयस्क स्त्री-पुरुष एक लँगोटी-सी लगा लिया करते हैं। किंतु अब यह प्रथा बहुत-कुछ मिट चली है।

एस्किमो लोगों के बाल एकदम काले होते हैं। वे कड़े और सीधे रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने बाल कभी नहीं कटवाते। कभी-कभी बच्चों के बाल कतर दिये जाते हैं। किंतु

इस तरह बचपन में जिनके बाल काट दिये जाते हैं उन्हें फिर उम्र भर अपने बाल कटवाते रहना पड़ता है। स्त्रियाँ अपने बालों को सिर के ऊपर एक तरह के जूड़े की शक्ल में बाँधे रहती हैं। वे सजावट के लिए तरह-तरह के रंगीन फ़ीते भी काम में लाती हैं।

एस्किमो लोगों की सारी जीवनचर्य्या उस वातावरण द्वारा नियंत्रित है जिसमें वे रहते चले आए हैं। ज़रा कल्पना कीजिए मनुष्यों की एक ऐसी टोली की जो सारी बाहरी दुनिया से अलग कटे हुए कड़कड़ाती सर्दीवाले एक बर्फ़ीले उजाड़खण्ड में जा पड़ी हो, जहाँ न वृक्ष हों न घास, न लोहा आदि धातुएँ ही मिलती हों, न मनुष्य की सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक वह अन्य सामग्री ही सुलभ हो जो पृथ्वी के अन्य भागों में प्राप्य है! केवल समुद्र की लहरों द्वारा बहाकर लायी गई कुछ लकड़ी, पत्थर, और जानवरों की हड्डियाँ या खाल—यही एकमात्र सामग्री उसे उपलब्ध है, जिस पर उसे निर्वाह कर अपना काम चलाना है; इसी से अपनी सभ्यता की इमारत खड़ी करना है। हड्डियाँ या खाल भी कहीं उसे पड़ी तो मिलने की नहीं। इसके लिए भी उन थोड़े-से जल-जीवों का शिकार करना ज़रूरी है, जो उसके लिए आहार के एकमात्र साधन हैं! यदि हमारी 'सभ्य' कहलानेवाली दुनिया का कोई व्यक्ति दैवयोग से ऐसी परिस्थिति में जा पड़े तो वह कब तक निभा पायगा? किन्तु इसी तरह के वातावरण में एस्किमो लोग पिछली अनेक शताब्दियों से रहते चले आए हैं और उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार अपने आपको इस वातावरण में भी सुखी बना लिया है। हम उनका रंगढंग देखकर संभवतः उन्हें सभ्यता की निम्न श्रेणी पर अवस्थित समझने लगेंगे, परन्तु उनके जीवन की असुविधाओं और कठोरता पर यदि हम ध्यान दें और फिर इस बात को परखें कि ऐसे प्रतिकूल वातावरण पर भी विजय पाने में इन लोगों ने किस हद तक सफलता पा ली है, कैसे इतनी परिमित सामग्री ही से वे अपना काम चला ले जाते हैं, तो हमें अपना ख़याल बदलने को मजबूर होना पड़ेगा।

आइए, सबसे पहले इन लोगों की बस्ती या रहने के मकानों पर ही ध्यान दें। जहाँ जाड़े में तापमान शून्य हिमांक से भी ५०–६० अंश या इससे भी अधिक नीचे गिर जाया करता हो और कभी-कभी हफ़्तों बर्फ़ीले तूफ़ान का ऐसा दौरा रहा करता हो कि किसी भी जीवधारी के लिए बाहर मुँह निकालकर झाँकना भी असंभव हो जाता हो, ऐसे स्थान में खुले में रह सकना किसके लिए संभव हो सकता है! किन्तु यहाँ मकान भी बनाया जाय तो किस सामान से? न अधिक लकड़ी ही प्राप्त है न लोहा ही। कहीं-कहीं तो मिट्टी भी नहीं मिलती। केवल पत्थर है या जानवरों की खालें। परंतु चतुर एस्किमो इन्हीं से अपना आवास-स्थान बना लेते हैं। जाड़ा ये लोग पत्थर और मिट्टी से बनाए गए एक विचित्र प्रकार के कंदरानुमा घरों में बिताते हैं, जो बाहर से भौंडे ढूह-जैसे दिखाई देते हैं। ऐसे घरों में भीतर केवल एक ही कमरा रहता है, जिसमें कई स्त्री-पुरुष एक साथ रहते हैं। कैप्टन होल्म ने एक ऐसे मकान का उल्लेख किया है, जिसका भीतरी कमरा २७×१४॥ फ़ीट आकार का था और उसमें ३८ व्यक्तियों के आठ कुटुंब रहते थे! इतनी थोड़ी-सी जगह में ही ये लोग कैसे गुज़र कर लेते हैं, यह एक अचरज की बात है।

गर्मियों में ये लोग तंबुओं में रहा करते हैं, जो खाल के बने होते हैं। किन्तु एस्किमो लोगों के सबसे विचित्र आवासस्थान तो वे बर्फ़ के मकान हैं, जिन्हें जाड़े के दिनों में एटलांटिक के तट की ओर रहनेवाले ग्रीनलैण्ड के कुछ एस्किमो अपने रहने के लिए बनाया करते हैं। बर्फ़ के मकान! आपको एकाएक यह अनहोनी बात शायद समझ में न आएगी, न इस पर एकबारगी विश्वास ही होगा। परन्तु एस्किमो लोग सचमुच ही जाड़े के दिनों में बर्फ़ की शिलाएँ काट-काटकर, उन्हें ईंटों या पत्थरों की तरह एक-दूसरे पर व्यवस्थित रूप से रचकर, चूने के भट्ठे की शक्ल का ख़ालिस बर्फ़ का एक गुंबजनुमा मकान बना लेते हैं और उसमें उनका पूरा कुटुम्ब बड़े आराम के साथ जाड़े की लंबी रातें काट लेता है! बर्फ़ के ये ढोके एक-दूसरे से मिलकर अपने आप ही एकाकार हो जाते हैं और यदि कहीं दरार रह गई तो उसमें ये लोग मुलायम बर्फ़ को सीमेंट की तरह भर देते हैं। इस टीलेनुमा घर पर जाड़े में जब बर्फ़ गिरती है तो उसके भीतर रहनेवालों पर उसका रंचमात्र भी असर नहीं पड़ता; उल्टे उससे वह मकान और भी मज़बूत हो जाता है। मकान के भीतर एक ही कमरा रहता है और उसमें बर्फ़ की ही शिलाओं की बेंचनुमा बैठकें बनी रहती हैं। ये दिन में बैठने-उठने के काम आती हैं और इन्हीं पर रात को ये लोग सो रहते हैं। इन पर और फ़र्श पर खालों की कई पर्तें बिछी रहती हैं। इस कमरे से एक लम्बा सुरंगनुमा ढका हुआ निकास का रास्ता होता है। इसी से जो कुछ हवा आ सकती है इस कंदरा में आया करती है। भीतर का अँधेरा दूर करने के लिए झोपड़े के भीतर इनके विचित्र प्रकार के कई दीपक रात-दिन जला

करते हैं। इन दीपकों में चर्बी जलती है। प्रायः सील की चर्बी या 'ब्लबर' का एक बड़ा-सा टुकड़ा दीपक की शिखा के ऊपर लटका दिया जाता है—उसी में से चर्बी या तेल पिघल-पिघलकर शिखा पर टपकता रहता है और उसे जागरूक रखता है। दीपक का पात्र एक नरम पत्थर का बना होता है और उसमें की बत्ती एक प्रकार की काई को बँटकर बनाई जाती है।

इस तरह के बर्फ़ के मकान केवल ग्रीनलैंड के पूर्वी तट के कुछ ऊपरी भागों में ही प्रचलित हैं—पश्चिम में अलास्का या दक्खिण में लेब्राडर के एस्किमो लोगों में ये नहीं पाये जाते। एस्किमो बस्ती में उनके इसी तरह के बर्फ़ या मिट्टी-पत्थर के कई दूहनुमा मकान दूर-दूर बिखरे रहते हैं। जाड़े में बर्फ़ गिरने पर वे धरती के साथ लगभग एकाकार हो जाते हैं।

एस्किमो लोगों के निर्वाह का मुख्य साधन सील, ह्वेल, वालरस और मछलियाँ आदि जलजीव हैं, जो वहाँ उपलब्ध हैं और जिनका ये लोग शिकार किया करते हैं। कहीं-कहीं केरीबो नामक बारहसिंघे का भी शिकार किया जाता है। परन्तु बहुत-से एस्किमो ने कभी बारहसिंघे को देखा तक नहीं। मछलियाँ और मांस को प्रायः ये लोग कच्चा ही खा लेते हैं—कभी-कभी उबालकर पका भी लेते हैं। इन्हें ये सुखाकर जमा भी रख छोड़ते हैं। ह्वेल और सील के 'ब्लबर' भी प्रायः कच्चे ही खा लिये जाते हैं। वनस्पतियों में कई प्रकार के समुद्री शैवालों को ये खाने के काम में लाते हैं। अकाल के ज़माने में तो वे जो कुछ भी मिलता है खा लेते हैं, यहाँ तक कि कुत्तों को भी नहीं छोड़ते। और तो और, मौक़ा पड़ने पर अपने तंबुओं की खालों को ही टुकड़े-टुकड़े काटकर उनका शोरवा बनाकर हड़प जाते हैं! एक बात बड़े मार्के की है, और वह यह है कि एस्किमो लोगों के भोजन का कोई निश्चित समय नहीं रहता—वे जब भी भूख लगती है खाने लगते हैं बशर्ते कि कुछ खाने को पास में हो। कभी-कभी शिकारी लोग दिन-दिन भर फाँका करके ही रह जाते हैं। इन लोगों में अनशन की अद्भुत सामर्थ्य है। किन्तु जब कभी ये खाने बैठते हैं तो फिर एक ही बैठक में इतना खा लेते हैं कि देखकर अचरज होता है।

समुद्री जलजीवों पर ही निर्भर होने के कारण एस्किमो प्रायः समुद्र-तट पर ही रहते हैं। समुद्र का इन लोगों की ज़िंदगी में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है—समुद्र ही इन्हें जीवन-निर्वाह की सभी सामग्री प्रदान करता है, उसी पर गर्मी में अपनी अजीब लंबी नौकाओं द्वारा और जाड़े में, जब वह बर्फ़ से ढक जाता है, कुत्तों से खींची जानेवाली स्लेज-गाड़ियों पर ये यहाँ से वहाँ की यात्रा करते हैं। एस्किमो लोगों की य नौकाएँ और कुत्तोंवाली स्लेज-गाड़ियाँ उनकी सबसे क़ीमती संपत्ति हैं। इनकी नौकाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक 'काइआक' या शिकार करने के लिए मर्दों द्वारा काम में लायी जानीवाली नौका, दूसरी स्त्रियों की नौका जो उनके लिए एक तैरते हुए घर का काम देती है। 'स्त्रियों की नाव' नाम इन्हें योरपियनों द्वारा मिला है, क्योंकि इन्हें स्त्रियाँ ही खेती हैं। 'काइआक' की रचना बहुत सँकड़ी लंबोतरी होती है। उसका भीतरी ढाँचा लकड़ी का बना होता है। यह लकड़ी इन्हें समुद्र की लहरों द्वारा दूर-दूर से बहाकर लाये जानेवाले लट्ठों व डालियों से मिलती हैं—यों तो बहुतेरे एस्किमो ऐसे भी हैं जिन्होंने कभी वृक्षों का दर्शन तक न किया होगा! नाव का यह ढाँचा ऊपर से सील की खालों से मढ़ा रहता है, जिससे उसमें पानी न घुस पाए। जैसा कि कहा जा चुका है, ये नौकाएँ बहुत कम चौड़ी होती हैं। यद्यपि लंबाई में वे ६ ग़ज तक होती है, पर उनकी अधिक-से-अधिक चौड़ाई १½ फ़ीट से ज़्यादा नहीं होती। इसी के दायरे में शिकारी के बैठने के लिए एक गोल गड्ढा-सा बना रहता है और उसके आस-पास उसके शिकार के शस्त्र—हार्पून या फेंकनेवाला बर्छा—आदि इस ढंग से लगे रहते है कि शिकारी प्रत्येक को अपने स्थान से हटे बिना ही उठाकर काम में ला सके। एस्किमो लोगों के ये हथियार-औज़ार सील आदि मारे गए जानवरों की हड्डियों से ही बनाए जाते हैं। उनका डंडा लकड़ी का होता है। अपनी परिमित सामग्री ही से इन लोगों ने अपना काम चलाने के लिए शिकार करने के ये अस्त्र-शस्त्र कैसे तैयार कर लिये हैं यह उनके कौशल और प्रतिभा का सूचक है।

एस्किमो की वीरता और साहस का यथार्थ परिचय हमें उस समय मिलता है जब वह काइआक पर चढ़कर महा-सागर की उत्तुंग तरंगों से लोहा लेता हुआ ह्वेल, सील या वालरस का शिकार करता है। यह कोई आसान काम नहीं होता—सरासर मौत से खेल खेलने-जैसा है! पहाड़ की दीवार की तरह ऊँची उठी हुई लहरें एक के बाद एक मानों शिकारी और उसकी मछली-जैसी नाव को निगलने के लिए दौड़ती हुई आती हैं और काइआक सहित उसे कई गज़ ऊँचे उछाल देती है। अगले अंक में हम आपको इनके साथ इनकी 'शिकार-यात्रा' पर ले चलेंगे, साथ ही इनके सामाजिक जीवन का भी मनोरंजक हाल सुनावेंगे।